हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। 'दिति' के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण इन दोनों भाइयों को दैत्य कहा गया है और इनका जो वंश-विस्तार हुआ वही दैत्य-वंश के नाम से विख्यात है। वे ही 'हिरण्यकशिपु' हमारे चरित्र-नायक दैत्यर्षि प्रह्लाद के जन्मदाता पिता थे और 'जम्भ' नामक दैत्य की पुत्री महारानी 'कयाधू' माता थीं।

अधिकांश पुराणों के मत से परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लादजी चार भाई थे और उनके एक बहिन भी थी। श्रीमद्भागवत (स्क०६अ०१८श्लो०१३) के अनुसार चारों भाइयों के नाम थे—'संह्लाद, अनुह्लाद, प्रह्लाद और ह्लाद।' बहिन का नाम था 'सिंहिका' जिसका विवाह 'विप्रचित्ति' नामक दैत्य के साथ हुआ था और उसीके गर्भ से 'राहु' नामक दैत्य उत्पन्न हुआ था। यह वही राहु है जिसने अमृत-मन्थन के पश्चात् देवता का बनावटी रूप रख और देवताओं की पङ्क्ति में बैठकर अमृतपान कर लिया था एवं जिसका शिर भगवान् ने काट डाला था किन्तु अमृत के प्रभाव से उसकी मृत्यु नहीं हुई और शिर एवं धड़ दो सजीव भाग हो गये। इन दो भागों में से एक का नाम राहु और दूसरे का नाम केतु पड़ा। ये दोनों राहु और केतु आज भी ज्योतिषशास्त्र में उपग्रह के नाम से तथा लोक में नवग्रहों के अभ्यन्तर ग्रह माने जाते हैं। किन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण (प्र० खं० अ० १२१ श्लो० ३) के अनुसार हमारे चरित्रनायक का एक भाई कालनेमि नामक महापराक्रमी दैत्य भी था। यह तारकासुर की लड़ाई में भगवान् वासुदेव के हाथों से

मारा गया था। पद्मपुराण में भी कालनेमि को दैत्यर्षि प्रह्लाद का भाई लिखा है।*

बंगाल में अधिकता से प्रचलित कृत्तिवासी रामायण के अनुसार 'कालनेमि' रावण का मामा था, जो लंकेश्वर के परामर्श से उस समय, जब हनुमान्‌जी विशल्यकरणी बूटी लेने के लिये 'गन्धमादन-पर्वत' को गये थे, कौशलपूर्वक हनुमान्‌जी को मारना चाहता था, किन्तु उसके विपरीत वह स्वयमेव उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसी प्रकार वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्ड में लिखा है कि विष्णु भगवान् के भय से 'कालनेमि' लंकेश्वर रावण के मातामह सुमाली के साथ लंका से भाग कर पाताल को चला गया था और वहीं रहने लगा था। बात कुछ भी हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, हमारे चरित्रनायक चार नहीं, पाँच भाई थे और उनका नाम था 'संह्राद, अनुह्राद, प्रह्राद, ह्राद और कालनेमि' तथा एक बहिन थी, जिसका नाम था 'सिंहिका। पुराणों में इस सम्बन्ध में भी मतभेद है कि, प्रह्राद अपने भाइयों में जेठे थे या छोटे थे अथवा मझिले थे। नाम के अक्षर में किसी स्थान पर लकारसहित 'ह्ला' का प्रयोग पाया जाता है और किसी स्थान में रकारसहित 'ह्रा' का। यद्यपि 'प्रह्राद' और 'प्रह्लाद' इन दोनों शब्दों के अर्थ में सूक्ष्मतया अन्तर है तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि दोनों ही शब्द एक ही व्यक्तिवाची हैं और वह व्यक्ति

* हरिवंश में भी पाँच भाई का होना लिखा है, किन्तु नाम में भेद है। सम्भवतः उपनाम के कारण भेद हो।

हैं हमारे चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि 'प्रह्लाद'। व्याकरण के अनुसार यदि 'रलयोः सावर्ण्यम्' मान लें तो दोनों शब्दों का भेद सर्वथा मिट सकता है। अतएव नाम के सम्बन्ध के विवाद को हम अनावश्यक समझते हैं।

दैत्यर्षि प्रह्लाद की धर्मपत्नी का नाम 'सुवर्णा' था, इसको बंगाली लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार 'सुवर्णलता' के नाम से लिखा है। 'सुवर्णा' हिरण्यकशिपु के वृद्ध मन्त्री वज्रदन्त नामक असुर की इकलौती लड़की थी, जो बड़ी ही साध्वी और पतिव्रता थी। सुवर्णा ही एकमात्र भार्या थी, जिसके गर्भ से परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद के पाँच पुत्रों के होने की बात कही जाती है। पुत्रों के नाम और संख्या में भी पुराणों में मतभेद है। महाभारत के उद्योगपर्व के ३५ वें अध्याय की कथा से तो एकमात्र विरोचन का होना पाया जाता है। किसी-किसी के मत से विरोचन और गविष्ठ दो पुत्रों का होना पाया जाता है और किसी के मत से गविष्ठ को छोड़ दिया गया है और 'विरोचन', 'जम्भ'* एवं 'कुजम्भ' नामक तीन पुत्रों का वर्णन है। पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड के छठें अध्याय के अनुसार चार पुत्र थे और उनके नाम थे 'आयुष्मान्', 'शिवि', 'वाष्कलि' और 'विरोचन'। विष्णुपुराण, हरिवंश, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण और शिवपुराण की कथाओं में मतभेद है और दैत्यर्षि प्रह्लाद के पुत्रों की संख्या और उनके नामों के सम्बन्ध में भी मतभेद है। बात

---

* जम्भ को कदाचित् भ्रम से पं० श्रीरामगोविन्द त्रिवेदीजी ने अपने लिखे राजर्षि प्रह्लाद के नोट में दैत्यर्षि प्रह्लाद का पाँचवाँ भाई लिख दिया है।

कुछ भी हो, किन्तु हमारे चरित्रनायक के दो पुत्रों के सम्बन्ध की कथाओं का अधिक प्रमाण मिलता है, एक तो 'विरोचन' का जो अपने आपको बड़ा ज्ञानी समझता था और बड़ा अभिमानी था। दूसरे गविष्ठ या गवेष्ठ का जो बड़ा वीर था और जिसके ऊपर राज्यभार देकर हमारे चरित्रनायक ने त्याग ग्रहण किया था। गविष्ठ के शुम्भ और निशुम्भ नाम के दो पुत्र थे, जो अपने प्रबल पराक्रम से सारे संसार में हलचल मचानेवाले थे, जिनकी कथाएँ पुराणों में विस्तृतरूप से मिलती हैं।

विरोचन के एकमात्र पुत्र थे परमप्रतापी दानवीर 'राजा बलि'। जिनके प्रबल पराक्रम से देवताओं के हृदय कम्पित रहते थे, जिनके यज्ञानुष्ठान से देवराज इन्द्र घबड़ाया करते थे और जिन्होंने अपनी दानवीरता से सारे साम्राज्य को भगवान् वामन के चरणों में अर्पण कर पाताल का निवास स्वीकार कर लिया था। वे ही राजा बलि हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद के पौत्र थे। राजा बलि के वाण आदि एक सौ पुत्र थे, जिनमें मुख्य-मुख्य के नाम हैं 'धृतराष्ट्र', 'सूर्य', 'विवस्वान्', 'अंशुतापन', 'निकुम्भ', गुर्वक्ष', 'कुली', 'भीम' और 'भीषण'। ज्येष्ठ पुत्र वाण को ही लोग वाणासुर के नाम से पुकारते हैं। उसके आगे के वंश का ठीक-ठीक पता नहीं चलता और न उसकी यहाँपर आवश्यकता ही प्रतीत होती है।

हिरण्याक्ष की भानुमती भार्या से अन्धक नामक एक पुत्र की उत्पत्ति लिखी है जो भगवान् शंकर के वरदान से हुई

थी। अन्धक का वंश-विस्तार तथा अन्यान्य दैत्यों के वंश-विस्तार की कथा का वर्णन यहाँ न करके हम केवल यह अवश्य कहेंगे कि, इस दैत्यवंश के पुण्यात्माओं की पवित्र कथाएँ पुकार-पुकार कर कहती हैं कि संसार में इस वंश के लोगों के समान भगवत्पार्षद, परम-भागवत एवं न्यायपरायण दानवीर कोई नहीं हुआ और इस वंश के सम्बन्ध से जितने भगवदवतार हुए हैं, न उतने भगवदवतार ही किसी दूसरे वंश के सम्बन्ध से हुए हैं। इस वंश की पूरी-पूरी कथाओं का उल्लेख करना इस छोटी-सी पुस्तिका में असम्भव है अतएव हमने साधारणतः एवं संक्षेपतः अपने चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद के वंश का परिचय दे दिया है, जिसको स्मरण करके आज भी न जाने कितने भगवद्भक्त और भागवत-भक्त आनन्द के समुद्र में गोते लगाते हैं और भक्तवत्सल भगवान् लक्ष्मीनारायण की अहैतुकी कृपा के पात्र हो रहे हैं।



चतुर्थ अध्याय

पूर्वजन्म की कथा



ष्टि के आरम्भकाल की कथा है कि, ब्रह्माजी के मानसपुत्र योगिराज सनक आदि चारों भाई, एक समय भगवद्भक्ति के समुद्र में गोते लगाते हुए तीनों लोक और चौदहों भुवन में भ्रमण करते हुए, आनन्दकन्द भगवान् लक्ष्मीनारायण की लीलामयी अपार शोभासमन्विता 'वैकुण्ठपुरी' में जा पहुँचे। यद्यपि वैकुण्ठपुरी की शोभा और सुषमा का वर्णन पुराणों और पाञ्चरात्र ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है, तथापि उसकी शोभा एवं सुषमा वर्णनातीत है। उसकी न तो तुलना हो सकती है और न उसके अलौकिक विषयों का वर्णन लौकिक शब्दों में किया ही जा सकता है। अतः वैकुण्ठपुरी की शोभा एवं सुषमा का वर्णन न करके, उसके 'निःश्रेयसवन' की भी प्रशंसा न करके, हम अपने चरित्रनायक के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ कथाओं का ही वर्णन करेंगे।

वैकुण्ठपुरी में भगवान् लक्ष्मीनारायण जिस स्थान में निवास करते हैं, उस स्थान के द्वारपाल 'जय' और 'विजय' नाम के पुण्यश्लोक भगवान् के पार्षद हैं। जिस समय सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार चारों भाई, भगवान् लक्ष्मीनारायण के निवासस्थान पर उपस्थित हुए, उस समय एक विलक्षण घटना घटी। जिस वैकुण्ठपुरी में स्वयं भगवान् जगन्माता महालक्ष्मीजी

के सहित निवास करते हैं, जिस पुरी के सारे चराचर जीव निर्विकार और भगवन्मय हैं और भगवान् के जो पार्षद भगवत्स्वरूप गुणातीत हैं, उस पुरी के उस स्थान में उन्हीं भगवान् के पार्षद 'जय' और 'विजय' में सहसा न जाने क्यों मानवी ही नहीं, दानवी स्वभाव की छाया प्रतीत होने लगी और जो योगिराज अपने सरल एवं सुन्दर स्वभाव के लिये आरम्भ से प्रसिद्ध हैं, जिनमें क्रोधादि विकारों का अस्तित्व ही नहीं और जो सदैव पाँच वर्ष के बालक के वेष में रह तीनों लोक और चौदहों भुवन में परिभ्रमण करते हुए न जाने कितने पतित-पामर प्राणियों को अपने दर्शनों से कृतकृत्य किया करते हैं, उनके हृदय में भी सहसा क्रोध की ज्वाला धधक उठी, जिससे एक अघटित घटना हो गयी।

जिस समय योगिराज सनकादि महर्षि वैकुण्ठ के द्वार पर पहुँचे, उस समय जय और विजय ने उनको अभ्यन्तर प्रवेश करने से मना किया। इसमें सन्देह नहीं कि, भगवत्प्रेरणा से जिस प्रकार महामाया प्रकृति देवी सारी सृष्टि की रचना कर डालती है, मानव-जीवन के लिये उदाहरणस्वरूप दिव्य लीलाओं को दिखलाने लगती है और—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
(सप्तशती-स्तोत्र 'मार्कण्डेयपुराण')

अर्थात् ज्ञानियों के निर्विकार चित्तों को भी वह महामाया भगवती (प्रकृति) देवी मोह में डाल देती है। इस वचन के अनुसार ही निर्गुण एवं निर्विकार पुरी में और भगवत्स्वरूप भगवान् के पार्षदों में

यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि, ये परमभागवत बालस्वरूप सनकादि महर्षि, ब्रह्मण्यदेव भगवान् लक्ष्मीनारायण के परमप्रिय आराध्यदेव नहीं, साधारण छोकड़े हैं ! और मोहवश उन्होंने उन महर्षियों को अभ्यन्तर-प्रवेश से रोक दिया । इतना ही नहीं, भगवान् की महामाया ने, चराचर की रचना करनेवाली प्रकृति देवी ने, उन परमभागवत योगिराज सनकादिकों को भी नहीं छोड़ा और उनकी योगशक्ति तथा भगवद्भक्ति को भी एक बार पछाड़ ही तो दिया । जय और विजय कोरे द्वारपाल ही न थे, प्रत्युत उनमें परमभागवत होने के लक्षण भी विद्यमान थे, उन्हीं जय-विजय ने योगिराज सनकादि महर्षियों को भगवत्-मन्दिर में प्रवेश करने से रोका । उस समय उन महर्षियों के निर्विकार शरीर में भी विकार उत्पन्न हो गया और परमभागवतों के सिद्धान्त-वचन—

अहं तु नारायणदासदासदासस्य दासस्य च दासदासः ।
अन्येभ्य ईशो जगतो नराणां तस्मादहं चान्यतरोऽस्मि लोके ॥

अर्थात्—'मैं नारायण के दास के दास के दास के दास के दास के दास का दास हूँ और भगवद्दासों के अतिरिक्त अन्य पुरुषों का स्वामी हूँ अतएव लौकिक पुरुषों से विलक्षण मैं (भागवत) पुरुष हूँ'—का ध्यान नहीं रहा और क्रोध के वश हो,महर्षियों ने भगवान् के द्वारपालों को, भगवान् के पार्षदों को शाप देकर महामाया प्रकृति देवी को विजय-माल पहना दी । महर्षियों ने कहा, 'हे द्वारपालो ! तुम लोग निर्विकार वैकुण्ठपुरी में निवास करने के योग्य नहीं हो । भगवान् के चरण-कमल का रज तुमसे दूर है । क्योंकि इस सत्त्वगुणप्रधान धाम में, इस निर्विकार वैकुण्ठपुरी में

और भगवान् के सन्निधिवर्ती पार्षदों में, ऐसा तमोगुण आ गया है कि, तुम लोगों ने हमको पहचाना नहीं और साधारण बालकों के समान हम लोगों को भगवान् के दर्शन करने से रोक दिया है। ये बातें इस दिव्य देश की नहीं और न भगवद्भक्तों की हैं। अतएव हे मूर्खो ! तुम लोग शीघ्र ही इस वैकुण्ठधाम से भ्रष्ट होकर आसुरी योनियों को प्राप्त होओ।' महर्षियों के घोर शाप को सुन कर द्वारपालों के होश-हवास गुम हो गये। इस प्रकार महामाया ने जब अपना काम कर डाला तब पुनः सभी के होश दुरुस्त हो गये। द्वारपाल शाप को सुन कर थर-थर काँपने लगे और महर्षि भी शाप देकर चित्रलिखे-से हो गये। चारों ओर सन्नाटा छा गया और वैकुण्ठपुरी में—शान्तिमयी वैकुण्ठपुरी में अशान्तिमय शब्द सुनाई देने लगे। ज्यों ही शाप का समाचार भक्तवत्सल भगवान् के कानों में पहुँचा त्यों ही भगवान् अपनी ब्रह्मण्यता का परिचय देते हुए, महालक्ष्मीसहित पाँव-पियादे उसी स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ योगिराज सनकादि महर्षि खड़े थे।

जगन्माता महालक्ष्मी के सहित भगवान् नारायण को अपने सामने पाँव-पियादे आते देख कर महर्षियों के हृदय मुग्ध हो गये, वे अतृप्त नयनों से एकटक उनके मधुर दर्शन करने लगे। भगवान् के वर्णनातीत, शोभाधाम स्वरूप को देख कर, उनकी चतुर्भुजी मनोहर मूर्ति की मन्द मुसकान की छटा को निरख कर उस समय सभी लोग चित्रलिखे-से हो गये। सब-के-सब उपस्थित प्राणी, अलौकिक एवं अकथनीय आनन्दसागर में डूबने लगे !

सनकादि महर्षियों ने आरम्भ में तो साष्टाङ्ग प्रणाम किया; किन्तु भगवान् के दर्शनों से उनकी तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने एक साथ ही भगवान् के सम्पूर्ण अङ्गों के दर्शन करने के लिये समाधि लगा ली और दिव्य दृष्टि द्वारा वे भगवान् के विराट् रूप का दर्शन करने लगे। इच्छानुसार दर्शन कर लेने के पश्चात् महर्षियों ने भगवान् की स्तुति आरम्भ की। सनकादि महर्षियों ने कहा—'हे दयामय, जगदाधार, सर्वान्तर्यामी परमात्मन्! आपकी महिमा अपार है। मनुष्य आपकी माया का पार नहीं पा सकते और न आपके सर्वव्यापी सुन्दर स्वरूप को अपने चर्म-चक्षुओं से देख ही सकते हैं। विरले ही भाग्यवान् प्राणी होंगे, जो आपके इस अपूर्व दर्शन से अपने आपको कृतकृत्य बनाने का अवसर प्राप्त करते हैं; किन्तु आज हम लोगों पर आपकी अहैतुकी कृपा है, अपार अनुकम्पा है और न जाने हम लोगों के कौन-से सुकृत का फल प्राप्त हुआ है, जो आपने हम लोगों को अपने वास्तविक रूप का दर्शन दिया है। भगवन्! इसमें सन्देह नहीं कि आप सारे चराचर के स्वामी, सबके नियन्ता और सबके अन्तर्यामी हैं; फिर भी आपका यह अलौकिक स्वरूप, यह विराट् दर्शन, आपकी 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की महिमा, सहज में नहीं समझ पड़ती। इसके लिये न जाने कितने ज्ञानीजन जन्म-जन्मान्तर तक तपस्याएँ करते और फिर भी सफल-मनोरथ नहीं होते हैं। नाथ! यद्यपि अद्यावधि हम लोगों के हृदय में कभी क्रोध का आविर्भाव नहीं हुआ था और इस महाशत्रु से हम लोग बचे

थे। हम लोगों के हृदयकमल में इस पापी क्रोधरूपी काँटे को कभी स्थान नहीं मिला था, किन्तु न जाने क्यों आज यह अघटित घटना हो गयी और हम लोगों का हृदय सहसा क्रोध से कलुषित हो गया। हृदयकमल में क्रोधरूपी काँटे पैदा हो गये, अतः हम लोग बड़े ही चिन्तित हैं कि, अपने स्वामी को, अपने आराध्यदेव को हृदयकमल में कैसे स्थान दें। अपने हृदयकमल को कैसे निष्कण्टक बनावें और उसमें अपने इष्टदेव को कैसे पधरावें। इसमें सन्देह नहीं कि, पुष्पपराग का प्रेमी मधुकर काँटों से आच्छादित पुष्पों की सुगन्ध को ग्रहण करता और उस-पर बारम्बार मँड़राया करता है। इसी प्रकार आप हम लोगों के भक्तिभावपूर्ण हृदयकमल में क्रोधरूपी काँटों के होते हुए भी निवास करेंगे। यद्यपि ऐसा हम लोगों का दृढ़ विश्वास है, तथापि हम लोगों का उत्साह मन्द पड़ रहा है और इस बात के पश्चात्ताप से चित्त चिन्तित हो रहा है कि, इस निर्विकार पुरी में हम लोगों ने क्रोध करके अपने हृदयकमल को क्यों कण्टकाकीर्ण बना लिया। भगवन्! हम लोग अपने आप अपने किये पर पछता रहे हैं और इसके लिये आपसे क्षमा माँगते हैं।'

महर्षियों की स्तुति सुन कर ब्रह्मण्यदेव, भक्तवत्सल भगवान् ने कहा—'हे तपोधन महर्षियो! आज आप लोगों के आनन्दमय दर्शन पाकर मैं लक्ष्मी के सहित कृतकृत्य हो रहा हूँ। आज समूचे वैकुण्ठसहित हम लोगों के सौभाग्य का सूर्य उदय हुआ है कि, साक्षात् वेदस्वरूप आप चारों महर्षियों ने कृपया यहाँ

पधारने का कष्ट उठाया है। तपोधन ! आपने क्रोध के सम्बन्ध में जो ग्लानियुक्त वचन कहे हैं, यह आपकी कृपा है, सरलता है और हम लोगों पर आपकी दया है; किन्तु आपने जो कुछ किया है समुचित किया है और आपका ऐसा करना अत्यावश्यक था। हम लोगों को अत्यन्त खेद है कि हमारे इन जय और विजय द्वारपालों ने, जो इस समय चित्रलिखे-से खड़े हैं, आप लोगों को द्वार पर रोक कर हमारा घोर अपकार किया है। हमारे सेवक होकर जो हमारे आराध्यदेव महर्षियों को हमारे पास आने से रोकें, उनसे बढ़कर मूर्ख और दूसरा कौन होगा ? शास्त्रों में लिखा है कि स्वामी की कीर्ति को दूषित करनेवाले सेवक सदैव त्यागने योग्य होते हैं। जैसे शरीर को कोढ़ नष्ट कर डालता है वैसे ही स्वामी की सुकीर्ति-चन्द्रिका में अविवेकी सेवक कलङ्क-समान और उसको नष्ट करनेवाले होते हैं। मेरे पास रहते इन दोनों द्वारपालों को न जाने कितना सुदीर्घ काल बीत गया, किन्तु इनके हृदय में मेरे आराध्यदेव ब्राह्मणों का महत्त्व नहीं प्रवेश कर सका। इसके लिये मुझे स्वयं लज्जा मालूम होती है और मुझे आन्तरिक दुःख है। मैं ब्राह्मणों को अपना इष्टदेव मानता हूँ। ब्राह्मणों ने सृष्टि का कितना बड़ा उपकार किया है, कैसे-कैसे ज्ञान फैलाये हैं और उनके द्वारा मेरे वैदिक धर्म और मेरे यश एवं भागवत-सम्प्रदाय का कैसा अभ्युदय हुआ है। इसको मैं भली भाँति जानता हूँ। महर्षिगण ! मैं ब्राह्मणों के हजार कटुवचनों को सहने के लिये तैयार रहता हूँ और स्वप्न में भी उनका अपमान

करना घोर पाप समझता हूँ। ब्राह्मणों के दर्शन करके उनके चरणों की धूलि को अपने सिर पर चढ़ाने में मैं अपना सौभाग्य एवं गौरव समझता हूँ। अतएव जो ब्राह्मणों का अपमान करते हैं, वे मेरे कभी प्रिय नहीं हो सकते। जो लोग ब्राह्मणों की सेवा नहीं करते, उनके कड़ुवे वचनों को सहन नहीं करते, प्रत्युत उत्तर देने की चेष्टा करते हैं, वे महामूर्ख और अपने स्वार्थ को लात मारनेवाले प्राणी हैं। मैं तो ब्राह्मणों को ही अपना गुरु, अपना इष्टदेव और पूज्यतम समझता हूँ। तब उनके अपमान करनेवाले मूर्ख की सेवाओं को मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ? ब्राह्मणों की प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है और उनकी अप्रसन्नता में ही मैं अप्रसन्न होता हूँ। अतएव लक्ष्मीसहित मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे इन द्वारपालों ने आपको रोक कर जो अक्षम्य अपराध किया है, उसके लिये इन लोगों को जो नाममात्र का आपने शापरूपी दण्ड दिया है वह पर्याप्त नहीं; उसके लिये तो आप मुझे समुचित दण्ड दें और दया करके मेरे ऊपर प्रसन्न हों, क्योंकि सेवकों के अपराध का उत्तरदायित्व स्वामी पर भी होता है, अतएव उनके किये अपराधों का मैं सर्वथा अपराधी हूँ। आप लोग अपने क्रोध के लिये पछतावा न करें, क्योंकि आपका वह समुचित क्रोध था। यदि आप ही लोग अपने दण्ड के द्वारा हमारा शासन न करेंगे तो कौन करेगा ?'

भक्तवत्सल भगवान् की सत्य एवं धर्मयुक्त करुणापूर्ण वाणी सुन कर महर्षिगण गद्गद-हृदय हो गये। दयामय दीनबन्धु की

ब्रह्मण्यता देख कर महर्षियों का हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने कहा कि–'हे वैकुण्ठनाथ ! आप क्या कह रहे हैं, आपके वचनों ने तो हम लोगों को स्तम्भित कर दिया है, कुछ करते-धरते ही नहीं बन आता; किन्तु फिर भी हम आपसे यही प्रार्थना करते हैं कि, हमने जो चञ्चलतावश क्रोध में आकर आपके द्वारपालों को शाप दे दिया है, इसके लिये हम लज्जित हो रहे हैं। एक क्षुद्र भूल के लिये हम लोगों को इतना क्रोध नहीं करना चाहिये था। अब आपके दर्शनों से हम लोगों का क्रोध शान्त हो गया है। इन द्वारपालों के हित के लिये आप जैसा उचित समझें वैसा करें। हम लोगों को कोई आपत्ति नहीं, प्रत्युत इनके शापोद्धार से हमें प्रसन्नता होगी तथा अपने किये हुए अनुचित क्रोध का पछतावा मिटेगा।'

महर्षियों के इस दयामय भाषण के समाप्त होते ही जय और विजय दोनों साथ ही करुणस्वर से बोल उठे कि, 'हे स्वामिन् ! हे महर्षिगण ! हम अधम अपराधियों के उद्धार के लिये हमें शीघ्र कोई उपाय बतलाइये। जिन भगवच्चरणों के दर्शन के बिना–'*क्षणमपि यामति यामो दिवसाति दिवसाश्च कल्पन्ति*' की कहावत चरितार्थ होने लगती है; उन श्रीचरणों का वियोग हम लोगों के लिये असहनीय है। श्रीचरणों की सेवा को छोड़ कर न जाने हम लोग किस घोर नरक में गिरेंगे और न जाने कब तक के लिये हम लोगों को घोर नरकवासी होना पड़ेगा।' द्वारपालों के करुण क्रन्दन को सुन महर्षियों ने अपनी स्वाभाविकी दयालुता के वशीभूत होकर कहा–'हे वैकुण्ठनाथ ! इन दीन द्वारपालों के

उद्धार का शीघ्र उपाय कीजिये। हम लोगों के प्रार्थनानुसार तो आप इनको शाप-मुक्त कर दें तो अधिक उत्तम होगा।'

जय, विजय तथा सनकादि महर्षियों के वचनों को सुन कर भगवान् लक्ष्मीनारायण ने कहा कि—'हे महर्षिगण! आप लोग यह क्या कहते हैं? क्या ब्रह्मशाप भी कभी अन्यथा हो सकता है? त्रिकाल में भी और त्रिदेव की इच्छा से भी इस अमिट ब्रह्मशाप को मिटानेवाला तीनों लोक और चौदहों भुवन में कोई नहीं है। आप लोगों ने इन लोगों को जो शाप दिया है, वह इनके अपराधानुरूप ही है। गुरु नहीं, प्रत्युत लघु है और इनको उसका फल भोगना होगा। ये मनुष्यलोक में जाकर शीघ्र ही आसुरी योनि में जन्म ग्रहण करेंगे, जिसके योग्य इन लोगों ने अपराध किया है।' इतना कह कर भगवान् लक्ष्मीनारायण ने अपने द्वारपालों को सम्बोधित करके कहा—'हे प्रिय द्वारपालो! तुम लोगों ने बड़ी भूल की है। अब भविष्य में तुम लोगों के समान हमारे कोई पार्षद हमारे आराध्यदेव द्विजराजों का अपमान कभी न करें, इसी अभिप्राय से इन सदा क्रोध-विजयी महर्षियों ने तुम लोगों को शाप दिया है। इसके लिये तुम लोगों को दुःख मानने का कोई कारण नहीं है। अवश्य ही हमारी सेवा का वियोग तुम लोगों के लिये असहनीय प्रतीत हो रहा है। इसके लिये हम तुम लोगों का उद्धार करेंगे। तुम लोग असुरवंश में उत्पन्न होकर भी हमारी ओर जितना ही अधिक चित्त लगाओगे, उतना ही शीघ्र तुम लोगों का उद्धार होगा। किन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि, यदि मित्रभाव से तुम लोग

हमारा ध्यान रक्खोगे, तो तुम लोगों का उद्धार सात जन्म में होगा और यदि प्रबल शत्रु के रूप में हमारा ध्यान करोगे तो तीन ही जन्म में तुम लोग शाप से मुक्त होकर अपने इस पद को पुनः प्राप्त करोगे, क्योंकि जितनी तन्मयता शत्रुभाव में होती है उतनी तन्मयता भक्तिभाव में नहीं हो सकती। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। अतएव तुम लोगों की जैसी इच्छा हो वैसा करो।' दीनबन्धु दीनानाथ के वचनों को सुन कर महर्षियों ने द्वारपालों से कहा कि 'ठीक ही है, मर्यादा-पालन के लिये, तुम लोगों को कुछ काल के लिये भगवच्चरणों के वियोगजनित असह्य दुःख को भी सहन करना ही उचित है।'

भगवद्वचनों का समर्थन महर्षियों के मुख से सुन कर हाथ जोड़ और कम्पित स्वर से विजय ने कहा--'हे नाथ! हे कृपा-सिन्धु महर्षिगण! हम लोगों ने जिन चरणों की सदा अनन्य भाव से सेवा की है, उन चरणों के वैरी बनकर अपमान करें, और इसलिये अपमान करें कि, जिसमें हमारा उद्धार सात जन्म में न होकर तीन ही जन्म में हो जाय--सर्वथा अनुचित है तथा हमारे लिये हितकर नहीं है। जिन चरणों की सेवा के लिये ही हम अपना शीघ्र उद्धार चाहते हैं, उन्हीं चरणों का अपमान करें, यह कितना विषम कार्य है।' विजय के भक्तिभावपूर्ण वचनों के समाप्त होते ही जय ने कहा—'भाई विजय! तुमने स्वामी के वचनामृत की ओर ध्यान नहीं दिया, स्वामी ने दयामय भाव से तुमको इङ्गित किया है कि, तन्मयता शत्रुता में अधिक होती है; फिर तुम भगवच्चरणों

की अधिक तन्मयता चाहते हो अथवा कम ? प्राणप्रिय विजय ! पापमय मानव-जगत् की यातनाएँ असंख्य नरकों की भीषण यन्त्रणाओं से भी अधिक भीषण होती हैं अतएव वहाँ से जितने ही कम समय में छुटकारा मिले, उतना ही उत्तम होगा। शत्रुता और मित्रता के भ्रम में न पड़ो। विचार की दृष्टि से शान्त-चित्त होकर सोचो। प्यारे विजय! देखो न, जो *'अणोरणीयान् महतो महीयान्'* के रूप में सर्वान्तर्यामी विराट् पुरुष है, जो सर्वव्यापी भी है और जिसके एक-एक रोम में न जाने कितने ब्रह्माण्ड विराजमान हैं उसकी कैसी मित्रता और कैसी शत्रुता ? हम क्षुद्र जीव उसके लीलामय जगत् में किस गिनती में हैं ? हममें न तो मित्र-धर्म अथवा भक्ति-भाव के निबाहने की योग्यता है न शत्रुता करने की शक्ति ही है। हम तो जिन चरणों की सेवा अब तक करते हैं उनके अब भी सेवक हैं और जितना ही शीघ्र हम लोग फिर अपने सेवा-कार्य पर आ सकें, उतना ही अच्छा होगा। अतएव हम लोग अब चलें और अधिक तन्मयतामय शत्रुभाव से भगवान् लक्ष्मीनारायण की उपासना करके शीघ्र शापमुक्त हो, अपने इस पद पर वापस आवें।' जय की बात को विजय ने मान लिया। जिस समय दोनों वैकुण्ठपुरी से गिरने लगे, उस समय बड़ा ही हाहाकार हुआ और उस हाहाकार की ध्वनि से समस्त आकाशमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा। इधर भगवत्पार्षदों का पतन हुआ और उधर भगवान् लक्ष्मीनारायण ने यथोचित आतिथ्य-सत्कार करने के पश्चात् महर्षियों को अपनी वैकुण्ठपुरी की अनुपम सुषमा और शोभा को दिखलाकर प्रसन्न

किया। महर्षिगण प्रसन्नचित्त होकर विदा हुए और शान्त वैकुण्ठपुरी में पुनः सुशान्ति विराजने लगी।

ब्राह्मणों के शापप्रभाव से जय और विजय नामक जिन भगवत्पार्षदों का वैकुण्ठपुरी से पतन हुआ वे ही मर्त्यलोक में आकर आदिदैत्य के रूप में प्रकट हुए। महर्षि कश्यप के वीर्य और दक्षदुहिता 'दिति' के गर्भ से उनका जन्म हुआ तथा उनके नाम पड़े हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु। हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद, इन्हीं भगवत्पार्षद के अवतार—हिरण्यकशिपु के वीर्य और जम्भदुहिता दानवी 'कयाधू' के गर्भ से प्रादुर्भूत हुए थे। शिवपुराण की कथा है कि, जिन महर्षि सनकादि ने जय और विजय को शाप दिया था, उन्हींमें से महर्षि सनक ने दूसरे जन्म में प्रह्लाद के रूप में जन्म लिया था और दूसरे जन्म में जब हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ने रावण और कुम्भकर्ण के रूप में अवतार लिया था, तब हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद ने अञ्जनीकुमार के रूप में जन्म ग्रहण किया था और तीसरी बार जब वे ही भगवत्पार्षद दन्तवक्र और शिशुपाल के रूप में प्रकट हुए थे तब हमारे चरित्रनायक ने अक्रूर के रूप में तीसरा जन्म ग्रहण किया था। किन्तु उपर्युक्त कथा वर्तमान कल्प की नहीं, किसी दूसरे कल्प की प्रतीत होती है। क्योंकि रावण और प्रह्लाद के संवाद से पता चलता है कि, रावण के समय में भी हमारे चरित्रनायक दैत्यर्षि प्रह्लाद पाताललोक में विराजमान थे, अतएव उनका अञ्जनीकुमार के रूप में दूसरा जन्म ग्रहण करना सम्भव नहीं। फिर महाभारत में भीम और हनुमान्‌जी का संवाद



प्रह्लादकी अग्नि-परीक्षा

पृष्ठ १८१

पाया जाता है। अतएव हनुमान्‌जी का दूसरे जन्म में अक्रूर के रूप में अवतीर्ण होना सम्भव नहीं। क्योंकि भीमसेन और अक्रूर समकालीन थे।

पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड के तीसरे अध्याय में एक कथा है कि, दैत्यर्षि प्रह्लाद, पूर्वजन्म में शिवशर्मा नामक ब्राह्मण थे और पश्चात् जन्मान्तर में वे क्या हुए इसकी कोई चर्चा नहीं है। अस्तु, बात कुछ भी हो किन्तु हमारे चरित्रनायक का पूर्वजन्म, पवित्र ब्राह्मण-कुल में हुआ था और स्वयं ब्राह्मण-कुल में दैत्य नामक शाखा से उत्पन्न हुए, इसमें सन्देह नहीं। पद्मपुराण के उत्तरखण्डान्तर्गत नृसिंह-चतुर्दशी-माहात्म्य के प्रसङ्ग में प्रह्लादजी के पूर्वजन्म का बड़ा विलक्षण वर्णन है। उसमें लिखा है कि, पूर्वजन्म में दैत्यर्षि प्रह्लाद वसुदेव नामक एक अशिक्षित ब्राह्मण थे। सारांश यह कि, जितने प्रमाण मिलते हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि हमारे चरित्रनायक परम-भागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद, पूर्वजन्म में भी ब्राह्मण थे, पर जन्म में वे क्या हुए इसका निर्णय करना कठिन है; किन्तु पद्मपुराण की कथा से उनका पुनर्जन्म होना ही सिद्ध नहीं होता, जो सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।



पाँचवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपु का वृत्तान्त

गर्भ और जन्म



जिस समय महर्षि कश्यप की अदिति आदि अन्यान्य सभी धर्मपत्नियों में आदित्यादि देवताओं की उत्पत्ति हो चुकी थी और उनके प्रताप से सारा जगत् उनका ही अनुचर हो रहा था, उस समय जैसा कि हम पहले कह आये हैं चाक्षुष नामक छठवाँ मन्वन्तर था और उसके अन्तर्गत था सत्ययुग। भगवदिच्छा बड़ी प्रबल है। युग और मन्वन्तर उसके अनुचर हैं। इसलिये सत्ययुग में और महर्षि कश्यप-जैसे परम तपस्वी महर्षि के आश्रम में भी सत्ययुग के अनुरूप नहीं, कलियुग के अनुरूप घटना घट गयी। भगवान् के पार्षदों को—'जय' और 'विजय' को—ब्रह्मशाप हो चुका था और वे वैकुण्ठपुरी से पतित हो चुके थे। पूर्वकथित कारणों के अनुसार असुर-कुल में उनका अवतीर्ण होना भी आवश्यक था। अतएव भगवदिच्छा से ही पवित्र सत्ययुग में अपवित्र कलियुग के अनुरूप घटना का होना आश्चर्यकारक नहीं, स्वाभाविक था।

सन्ध्या का समय था। पतिव्रता 'दिति' ऋतुस्नान से निवृत्त हो चुकी थी और महर्षि कश्यप अपनी यज्ञशाला में सन्ध्योपासन करने के लिये प्रस्तुत थे। भगवदिच्छा से पतिव्रता 'दिति' के हृदय में

सन्तति-सुख की इच्छा उत्पन्न हुई और वह अधीर हो यज्ञशाला में जा पहुँची। यज्ञशाला में आती हुई धर्मपत्नी को देख कर महर्षि कश्यप के मन में विस्मय उत्पन्न हुआ और मन-ही-मन वे सोचने लगे कि, इस समय साध्वी 'दिति' का यहाँ आना अकारण नहीं है। इतने में 'दिति' महर्षि कश्यप के सम्मुख जा पहुँची। पतिव्रता दिति को देख कर महर्षि कश्यप ने कहा—'हे सुभगे! इस समय तुम इस यज्ञशाला में कैसे आयी और तुम्हारा मुखमण्डल मलिन-सा क्यों हो रहा है?'

दिति—'प्राणनाथ! आप तो त्रिकालदर्शी हैं। क्या आपसे मेरे आने का कारण छिपा हुआ है? भगवन्! आप चराचर के जन्मदाता और दूसरे प्रजापति के समान मेरे स्वामी हैं। आपकी कृपा से मेरी समस्त सपत्नियाँ (सौतें), मेरी बहुसंख्यक बहिनें पुत्र-पौत्रादि सन्तति-सुख से सम्पन्न हो रही हैं, किन्तु मुझ हतभाग्या पर आपने अद्यावधि ऐसी कृपा नहीं की। यद्यपि सपत्नियों के सन्तति-सुख को देख, मुझे बहुत दिनों से दुःख हो रहा था और उनके अतुल पराक्रम एवं सुख को देख कर मन में जलन-सी हो रही थी, तथापि लज्जा और भय-वश मैंने अद्यावधि आपसे कुछ भी नहीं कहा था; किन्तु इस समय मैं अधीर हो रही हूँ और मेरी प्रार्थना यही है कि, आप मुझ पर कृपा करें और मुझे भी सन्तति-सुख का सौभाग्य प्रदान करें।'

कश्यपजी—'प्राणप्रिये! तुमने जो कुछ कहा, उसको मैं प्रथम ही से जानता था। स्त्रियों का सपत्निव्यवहार मुझसे छिपा

हुआ नहीं है। मैं चाहता हूँ कि, तुम भी अपनी बहिनों और सपत्नियों के समान ही पुत्र-पौत्रादि सुख से सम्पन्न हो जाओ किन्तु समय पर। शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है कि तुम्हारा यह आन्तरिक खेद मिट जायगा और मनोरथ पूर्ण होगा। इस समय मैं सन्ध्योपासन करने जा रहा हूँ। तुम भी जाकर अपना कार्य करो। भगवान् तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे।'

दिति—'जीवनाधार स्वामिन्! आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है किन्तु आज ही मैं ऋतुस्नान से निवृत्त हुई हूँ अतएव आपसे प्रार्थना कर रही हूँ।'

कश्यपजी—'हे सुभगे! धैर्य धारण करो। हम तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करेंगे। जिस स्त्री के द्वारा केवल अर्थ, धर्म और काम ही नहीं, प्रत्युत मोक्ष भी प्राप्त होता है, उस स्त्री के कार्य को कौन ऐसा अज्ञानी है जो श्रद्धा और प्रेम के साथ न करेगा? गार्हस्थ्य जीवन का मुख्य अङ्ग ही गृहिणी है, उसके बिना गृहस्थाश्रम का पालन करना ही असम्भव है और गृहस्थाश्रम के बिना चारों वर्णों और चारों आश्रमों का काम नहीं चल सकता। गृहस्थाश्रम के बिना चराचर की सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है और मानव-जीवन व्यर्थ हो जाता है। अतएव कौन ऐसा मूर्ख होगा जो गृहस्थ की मूलभूत अपनी धर्मपत्नी के सन्तानोत्पादन-सम्बन्धी मनोरथ को पूर्ण करने की चेष्टा न करे?

हे मानिनि ! समस्त श्रेयस्कामों के लिये जिसको अर्धाङ्गिनी कहते हैं, जिसपर अपनी गृहस्थी का सारा भार रख कर अपने-आप निश्चिन्त होकर संसार में विचरण करते हैं उसकी इच्छा को पूर्ण करने की कौन चेष्टा न करेगा ? किसी भी आश्रम में न जीती जानेवाली दुर्जेय इन्द्रियों को, उनके विषयरूपी प्रबल शत्रुओं को जिस धर्मपत्नी की सहायता से, जिसके सहारे पुरुष, किले में बैठे हुए किले के स्वामी जैसे अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले दस्युओं, चोरों और डाकुओं को परास्त करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही पराजित करने में सर्वथा समर्थ होते हैं उसकी कामना को संसार में कौन ऐसा अज्ञानी होगा जो पूर्ण न करे ? किन्तु जरा ठहरो, दो एक घड़ी के पश्चात् मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा ।'

दिति—'भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा कीजिये । मैं आपके शरण में आयी हूँ । नाथ ! शरणागत का पालन करना सभी धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है । फिर आप-जैसे महापुरुषों से अधिक कहना व्यर्थ है, आप तो अन्तर्यामी और त्रिकालदर्शी हैं । स्वामिन् ! चाहे त्रैलोक्य के सारे सुख प्राप्त हों, किन्तु जो स्त्री अपने प्राणपति से सम्मानित नहीं, उसका संसार में आदर नहीं होता और उसका यश नहीं फैलता । जब तक स्त्री के पुत्र नहीं होते, तब तक उसका 'जाया' नाम ही सार्थक नहीं होता है । इसीसे *'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः'* इस श्रुति को लोग बड़ी श्रद्धा के साथ उच्चारण करते हैं, अतएव मैं विनीतभाव से आपके चरणों में प्रार्थना करती हूँ । आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ।

कश्यपजी–हे भामिनि! इस समय तुम सापत्न्यद्वेष से विवेक-शून्य हो रही हो और सन्ध्याकाल की घोर बेला की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित नहीं होता; किन्तु तुम्हारे समान मैं विवेकशून्य नहीं हुआ हूँ। अतएव कुछ समय ठहरो।

'हे प्रियतमे! मैं तुम्हारे उपकारों, तुम्हारी सेवाओं और तुम्हारे अधिकारों को भली भाँति जानता और मानता हूँ। यद्यपि मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे उपकारों का बदला मैं इस जीवन में चुकाने में असमर्थ हूँ तथापि इस समय मैं जो तुमको बारम्बार ठहरने के लिये कहता हूँ इसका विशेष कारण है। हे गृहेश्वरि! यह सन्ध्या का घोरतम समय है। इस काल को शास्त्रकारों ने महा घोरतम कहा है क्योंकि इस समय भगवान् भूतनाथ शङ्कर अपने भूतगण को साथ ले वृषभ पर सवार हो, संसारभर में विचरण करते हैं। श्मशान के पवन से विताड़ित धूम्रज्योति के समान जिनकी बिखरी एवं प्रकाशमान जटाएँ शोभायमान हैं तथा सुवर्ण के समान सुन्दर शरीर में चिता की भस्म से जिनकी शोभा द्विगुणित बढ़ रही है, वे ही तुम्हारे देवर देवादिदेव महादेव अपने चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपी त्रिनेत्रों से सारे चराचर को देख रहे हैं। सुन्दरि! भगवान् भूतभावन शङ्कर का संसार में न कोई स्वजन है, न शत्रु है, न आदरणीय है और न निन्दनीय है, अतएव इस घोरतम समय में शास्त्रकारों ने आहार, मैथुन, अध्ययन एवं शयन का निषेध किया है। समस्त ब्राह्मण-समुदाय उनकी चरण-रज

की माया का ही उपासक है और उनकी माया के विभूतिरूपी प्रसाद को प्राप्त करके वह अपने आपको कृतकृत्य समझता है, अतएव इस घोरतम समय को बीत जाने दो। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा।'

भगवदिच्छा की वशवर्तिनी साध्वी दिति ने अपने हठ को नहीं छोड़ा और विवश होकर महर्षि कश्यप ने भाग्यरूपी सर्व-शक्तिमान् परमात्मा को प्रणाम करके उसका मनोरथ पूर्ण किया। तदनन्तर महर्षि कश्यपजी ने दिति से कहा कि—'हे कामिनि! तुमने भावी के वशीभूत होकर हठात् इस घोरतम सन्ध्याकाल में गर्भ धारण किया है। इससे तुम्हारे उदर से दो पुत्र उत्पन्न होंगे, जो बड़े ही भयङ्कर होंगे। हे भामिनि! तुमने हमारी आज्ञा नहीं मानी। क्योंकि तुम्हारा चित्त भी देवद्रोह से अशुद्ध था। सन्ध्या का घोरतम समय था और सबसे बड़ी भयङ्कर बात तो यह है कि तुमने अपने हठ से देवादिदेव महादेव का अनादर किया है। अतएव तुम्हारे भावी दोनों ही पुत्र देवद्रोही, विष्णु-द्रोही, अधम और अमङ्गलरूप होंगे और जब उनका उत्पात बढ़ेगा तब साक्षात् भगवान् लक्ष्मीपति उनको मारेंगे।'

स्वामी के इन वचनों को सुन कर पतिव्रता दिति ने बड़े ही विनीतभाव से कहा कि हे स्वामिन्! मैं अबोध अबला हूँ और काम, क्रोध एवं द्वेषादि दोषोंकी आकर हूँ। अतएव जो कुछ मुझसे अपराध हुआ है, उसे आप क्षमा कीजिये और आशुतोष

भगवान् शङ्कर को मेरी विनती सुनाइये कि, वे मेरे पुत्रों का कल्याण करें और गर्भ को सफल एवं सबल बनावें।

कश्यपजी—प्रियतमे ! तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। भावी बड़ी प्रबल है। उसीके वशीभूत होकर तुमने प्रबल हठ किया और हमने उस हठ को स्वीकार किया। अवश्य ही गर्भाधान के समय तुम्हारा ध्यान अपने सापत्न्य पुत्र देवों के प्रति द्रोह से पूरित था और हमारा ध्यान भगवान् शङ्कर के घोरतम समय की ओर था। अतएव जो पुत्र होंगे वे देवताओं के घोर शत्रु होते हुए भी भगवान् शङ्कर के अनन्य भक्त होंगे। उनको भगवान् लक्ष्मीनारायण अपने हाथों से मारेंगे। यह भी कम प्रसन्नता की बात नहीं है। इतना ही नहीं, उन पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र का जो उत्तराधिकारी तुम्हारा पौत्र होगा, वह परमभागवत और अपने कुल की कीर्ति-कौमुदी को तीनों लोक और चौदहों भुवन में फैलानेवाला होगा।

अपने स्वामी की अमृतमयी वाणी सुन कर गर्भवती दिति बड़ी प्रसन्न हुई और उसकी अपने पुत्रों की दुष्ट प्रकृति की भावी चिन्ता मिट गयी। गर्भाधान होने के समय से ही संसारभर में न जाने कितने अपशकुन होने लगे। देवताओं को भय प्रतीत होने लगा और दिति को भी तरह-तरह के भयावने स्वप्न दिखलायी देने लगे। साधारण समय से बहुत अधिक दिनों के पश्चात् दक्षदुहिता सती 'दिति' के दो पुत्र उत्पन्न हुए। पहले हिरण्याक्ष पैदा हुआ। उसके पश्चात् हिरण्यकशिपु का जन्म हुआ। शास्त्रानुसार गर्भ की ज्येष्ठता

के कारण हिरण्यकशिपु ही ज्येष्ठ माना गया, किन्तु लौकिक दृष्टि से लोग हिरण्याक्ष को ज्येष्ठ मानने लगे।

जिस समय ये दोनों हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु पृथ्वी पर गिरे, उस समय तीनों लोक और चौदहों भुवन काँप उठे। दिव्य, आन्तरिक्ष और भौतिक अपशकुन होने लगे। स्वर्ग में इन्द्र का सिंहासन हिल गया और देवताओं में भयङ्कर हलचल मच गयी। तरह-तरह के अमङ्गलसूचक उत्पातों और अपशकुनों को देख कर लोग 'विश्वविप्लव' का-सा भविष्य अनुमान करने लगे। ऐसी भयङ्कर परिस्थिति को देखकर उनकी माता दिति के हृदय में बड़ा ही त्रास उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगी कि हे भगवन्! क्या अनर्थ होनेवाला है? क्या मेरे गर्भ से उत्पन्न ये पुत्रद्वय, संसार के सचमुच त्रासक, अपने कुल की मर्यादा के नाशक और देवद्रोही होंगे? दिति को चिन्तित देख, महर्षि कश्यप ने दोनों पुत्रों के पूर्वजन्म की कथा के साथ सारे रहस्य का उद्घाटन किया, तब उसकी चिन्ता दूर हुई। स्नेहमयी माता अपनी स्वाभाविकी दयालुता, वत्सलता के अनुसार पुत्रों के पालन-पोषण में लग गयी।

महर्षि कश्यप ने पुत्रों के यथासमय समस्त संस्कार विधि-पूर्वक करवाये। नामकरण-संस्कार के समय ज्येष्ठ पुत्र का नाम हिरण्य-कशिपु तथा छोटे का नाम हिरण्याक्ष रखा गया। दोनों ही बड़े प्रतापी और पराक्रमी प्रतीत होने लगे। शनैः-शनैः हिमालय के समान दीर्घ एवं कठिनकाय होकर दोनों बढ़ने लगे और इन दोनों ऋषिकुमार दैत्यों के आतङ्क से सारे मर्त्यलोकवासी आश्चर्यान्वित और देवलोकवासी भयभीत हो गये।

छठाँ अध्याय

भ्रातृ-वध



स समय सारे जगत् में तीनों लोक और चौदहों भुवन में देवताओं की तूती बोल रही थी, देवराज इन्द्र का आधिपत्य व्याप्त था और असुरों का आश्रयदाता कोई नहीं था; उसी समय भगवन्माया की प्रेरणा से देवराज इन्द्र को अभिमान हुआ और उनका विवेक और उनकी बुद्धि अभिमान के वशीभूत होकर अविवेकिनी बन बैठी। जिस हृदय में अभिमान का आवेश हो जाता है, उस हृदय में शील टिक नहीं सकता और जिस हृदय में शील नहीं होता, उसको सत्य, धर्म, लक्ष्मी आदि सद्गुण-पूर्ण समस्त ऐश्वर्य परित्याग कर देते हैं। इसी कारण से अभिमानी देवराज इन्द्र को राज-लक्ष्मी उनके हित के लिये, उनके अभिमान को मिटाने के लिये परित्याग करना चाहती थी। उसी समय जब छठें मन्वन्तर का सत्ययुग था, महर्षि कश्यप के घर में पतिव्रता दिति के गर्भ से असुरों के आश्रयदाता एवं परमप्रतापी हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नामक दो यमज पुत्र आदिदैत्य के रूप में प्रकट हुए थे।

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के जन्म ग्रहण करते ही देवताओं में भय छा गया और ज्यों-ज्यों उनका तेज-प्रताप बढ़ता गया त्यों-त्यों वह भय और भी अधिक बढ़ता गया। यहाँ तक कि दोनों

भाइयों ने अपने बाहुबल से तथा असुरों की सहायता से सारे जगत् पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हिरण्यकशिपु अपना राजकाज देखने लगा और यथासम्भव साधारणतया न्यायानुकूल शासन करने लगा; किन्तु हिरण्याक्ष पर राजकाज का भार न था, अतः वह उद्दण्ड होकर चारों ओर घूमता फिरता था। कभी वह दिग्पालों पर चढ़ाई करता था, कभी इन्द्रासन पर आक्रमण करता था और कभी अन्यान्य देवताओं को सताता था। उसके पराक्रम से सभी भयभीत थे, उसके आतङ्क से सभी त्रस्त थे और उसके उत्पात से मनुष्यों एवं देवताओं को समानरूप से असह्य दुःख था। देवतागण अपने-अपने पदों से च्युत होकर चारों ओर मारे-मारे फिरते थे और मनुष्यों की दुर्दशा का तो कोई पार ही न था। सारी प्रकृति उसकी अनुगामिनी थी, अतएव सारे संसार में हिरण्याक्ष की विजय-दुन्दुभी बज रही थी। अवश्य ही यह सब कुछ होता था परन्तु फिर भी दीनबन्धु, दीनानाथ एवं विश्वम्भर भगवान् लक्ष्मीनारायण का आसन नहीं हिलता था। मानों वे चुपचाप तमाशा देखते थे और इन्द्रादि देवताओं को उनके अभिमान के लिये जान-बूझ कर इन असुरों द्वारा दण्ड दे रहे थे।

जब हिरण्याक्ष का अत्याचार बढ़ते-बढ़ते चरम सीमा को पहुँच गया और देवराज इन्द्र का दुरभिमान मिट गया, जब हिरण्याक्ष ने सारी पृथ्वी को मटियामेट कर रसातल को पहुँचा दिया, तब भगवान् लक्ष्मीनारायण का आसन हिला। देवताओं ने पुकार मचायी, ब्रह्मादि ने प्रार्थनाएँ कीं और जब भगवत्पार्षद के अवतार दैत्यवर

हिरण्याक्ष के उद्धार का समय उपस्थित हुआ तब प्रकृतिदेवी के अधीश्वर, संसार के नियन्ता भगवान् लक्ष्मीनारायण ने अवतार धारण कर हिरण्याक्ष का संहार किया। जिस समय हिरण्याक्ष को मार कर भगवान् ने वाराहरूपसे लोगों को दर्शन दिया, उस समय सारे देवताओं ने जाकर स्तुति की और पुष्प-वृष्टि करके विजय-दुन्दुभी बजायी। यद्यपि हिरण्याक्ष का बध हो गया और देवताओं ने विजय की दुन्दुभी बजा दी, तथापि संसारव्यापी आसुरी साम्राज्य का आतङ्क नहीं मिटा और न देवताओं को अपने अधिकार ही मिले; प्रत्युत उनको और भी अधिक कष्ट होने लगा। जिस समय हिरण्याक्ष मारा गया उस समय पुत्रवत्सला माता दिति विलप-विलप कर रोने लगी और हिरण्याक्ष के स्त्री-पुत्रादि के करुणक्रन्दन से आकाश प्रतिध्वनित होने लगा। उस समय समस्त कुटुम्बियों की शोकपूर्ण दशा को देख कर वीरवर हिरण्यकशिपु ने माता को सम्बोधित करके कहा—'हे वीरप्रसविनि माता! शोक करना आपको उचित नहीं, आपको उचित है कि स्वयं धैर्य धारण कर अपनी पुत्रवधू और पौत्रादि को धैर्य प्रदान करें। हम आपके पुत्र तथा हमारे भाई के ये पुत्र मौजूद हैं। फिर आप क्यों शोक करती हैं? क्या आपको यह विश्वास है कि इस भ्रातृ-बध का बदला लेने में हम लोग समर्थ नहीं हैं। भाई हिरण्याक्ष का बध शोक करने योग्य नहीं है। उनको वीरगति प्राप्त हुई है। कायरों के समान उनकी मृत्यु नहीं हुई। ऐसे सुपूत की माता को आनन्दित होना चाहिए न कि रोना। हम आपके नाम को, दैत्यवंश को चलाने और अपने शत्रु देवताओं को उनके किये

अपराधों का मजा चखाने के लिये तैयार हैं। आप शोकाकुल न हों। शान्त चित्तसे देखें। हम इस भ्रातृ-बध का बदला शीघ्र ही लेंगे। हम जानते हैं कि जिस विष्णु की आज ये देवता परमेश्वर करके स्तुति कर रहे हैं, जिसने हमारे वीर भ्राता को धोखे से मारा है, वह कभी ईश्वर कहाने योग्य नहीं है। जो पक्षपाती हो और सदैव देवताओं का साथ देकर असुरों का नाश करना चाहे, हम उसको ईश्वर कैसे मानें? ईश्वर में न पक्षपात है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है और न उसमें कोई विकार ही है। वह निर्विकार ईश्वर इन विकारयुक्त देवताओं का साथी बन कर हमारे वीरशिरोमणि भाई को क्यों मारता? उससे क्या प्रयोजन? हम दोनों भाई हैं। देवताओं और असुरों का सौतेले भाई का सम्बन्ध है। अपने-अपने अधिकारों के लिये हम लड़ते हैं, झगड़ते हैं और कभी हम जीतते हैं तो कभी देवता लोग जीतते हैं। हमारे दोनों के बीच में इस तीसरे का क्या काम था और वह बीच में कूदनेवाला निर्विकार ईश्वर कैसे हो सकता है? ईश्वर की दृष्टि में तो हम दोनों समान हैं। वह दोनों का परम पिता है फिर वह मोहवश कैसे पक्षपात करेगा? यह हमारे समझ में नहीं आता। अतएव हम कहते हैं कि, हमारे वीरवर भाई को मारनेवाला ईश्वर नहीं, कोई धोखेबाज़ व्यक्ति है और उसकी देवतालोग इसलिये ईश्वर के नाम स्तुति कर रहे हैं कि, जिससे हम लोग भयभीत हों और यह मान लें कि इन देवताओं के साथी ईश्वर हैं। सारांश यह कि, आप शोक न करें। हम देवताओं से अपने भाई का बदला शीघ्र लेंगे और इस विष्णु को भी हम देखेंगे कि,

हमारे भाई को मार कर ईश्वर के नाम से त्रिलोकी में कैसे अपने को पुजवाता है।

पुत्र के वीरतापूर्ण वचनों को सुन कर पुत्रशोक से व्याकुल माता को कुछ धैर्य हुआ और उसने अपनी पुत्रवधू तथा पौत्रादि को सान्त्वना प्रदान की। हिरण्याक्ष की पतिव्रता स्त्री 'भानुमती' अपने पति के शरीर के वस्त्र को लेकर सती होने को तैयार हुई। माता दिति ने बहुतेरा समझाया। उसने कहा—'बेटी! सती न हो, अभी तो मैं हतभाग्या जीती हूँ। मेरे सामने तू अभी दुधमुँही बालिका है, तेरा सती होना उचित नहीं। देख तो तेरा यह सुपुत्र तेरी ओर करुण-दृष्टि से देख रहा है। इसको छोड़ कर सती होना तुझको उचित नहीं। सती होना और ब्रह्मचर्य से अपना जीवन व्यतीत करना ये दोनों ही साध्वी स्त्रियों के लिये पति-वियोग के समय के समान कर्तव्य हैं।' किन्तु हिरण्याक्ष की स्त्री 'भानु' अथवा 'भानुमती' ने कहा—'माता! आप क्या कहती हैं? मिथ्या मोह में पड़ कर आप-जैसी वीरप्रसविनी माता के लिये नारी-धर्म को भूल जाना या जान-बूझ कर भुला देना उचित नहीं। क्या साध्वी स्त्रियों के लिये प्राणपति के अवसान में अग्निप्रवेश से बढ़ कर भी कोई धर्म है? क्या शास्त्रों में *'नाग्निप्रवेशादपरो हि धर्मः'* नहीं लिखा है? आप मुझे अपने प्राणपति की पदानुगामिनी बनने से क्यों रोकती हैं? आप आज्ञा दें कि मैं अपने प्राणपति की पदानुगामिनी बन भविष्य की साध्वी स्त्रियों के लिये स्त्री-धर्म के उज्ज्वल उदाहरण की अनुगामिनी बनूँ। अन्यथा सती न होने पर मेरा हृदय सदैव अपने प्राणपति के घातक

विष्णु तथा उनके अनुयायियों के प्रति शत्रुता करने में लगा रहेगा और उससे मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ।'

भ्रातृवधू के विशेष हठ का समाचार पाकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु स्वयं समझाने के लिये उसके पास गया और उसके समझाने-बुझाने पर भानुमती ने इस शर्त पर सती होने का हठ छोड़ दिया कि, प्रतिदिन एक-न-एक विष्णुभक्त का सिर काट कर उसके सामने लाया जावे और तब तक ऐसा होता रहे जब तक या तो विष्णु मारा न जाय या संसार से वैष्णवों का पूर्णतया अभाव न हो जाय ! हिरण्यकशिपु ने अपने भ्रातृवधू की ये शर्तें मान लीं और तदनुसार ही अपने असुर अधिकारियों को आज्ञा दे दी । हिरण्याक्ष की पत्नी भानुमती ने अपना हठ छोड़ दिया और हिरण्यकशिपु ने विलखते हुए अपने परिजनों को सान्त्वना दे अपने भाई का साम्परायिक कर्म विधिपूर्वक सुसम्पन्न किया । साम्परायिक कर्म से निवृत्त होकर दैत्यराज शासन तो करने लगा; किन्तु उसको रात-दिन इस बात की चिन्ता सताया करती थी कि भाई का बदला कैसे लिया जाय ? उसकी यह चिन्ता तब और भी अधिक बढ़ जाती थी जब वह अपनी भ्रातृवधू भानुमती को वैधव्य-दशा में दुःखित देखता था ।



सातवाँ अध्याय

भ्रातृ-बध से व्याकुलता

तपोभूमि की यात्रा



बसे हिरण्याक्ष को वाराहभगवान् ने मारा, तबसे हिरण्यकशिपु का चित्त कभी शान्त नहीं रहा। यद्यपि वह राजकाज करता था, खाता-पीता था और यथाशक्ति सभी कार्य करता था, तथापि चिन्तितभाव से—निश्चिन्त होकर नहीं। उसको रात-दिन यही चिन्ता घेरे रहती थी कि हम अपने भाई का बदला कैसे लें? और विष्णुभगवान् तथा उनके नाम व निशान को संसार से कैसे मिटा दें? उसने अपने राज्य में आज्ञा दे रक्खी थी कि, हमारे राज्य में कोई विष्णु की पूजा न करे। उनके मन्दिर न बनवावे और जो मन्दिर कहीं भी हों, उनको नष्ट-भ्रष्ट करके उनके स्थान में भगवान् शङ्कर के मन्दिर बनवाये जायँ। उसके आज्ञानुसार उसके अधिकारी असुर बराबर विष्णुमन्दिरों और वैष्णवों पर भीषण अत्याचार करने लगे। बेचारे निरीह वैष्णव छिप-लुक कर अपना जीवन, धन और धर्म बचाते और येन केन प्रकार से भगवान् के मन्दिरों की रक्षा करते थे। हिरण्याक्ष के बध से हिरण्यकशिपु का चित्त जितना ही क्षुब्ध हो रहा था उतना ही भयभीत भी था। वह समझता था कि मुझसे भी अधिक पराक्रमी मेरा भाई जब मार डाला गया, तब मेरे मारे जाने में क्या कठिनाई है? और सम्भव है कि, देवताओं का पक्षपाती विष्णु

मुझपर भी किसी अवसर पर आक्रमण करे। इसी भय से वह राज्य के कार्यों को करता हुआ भी अन्यान्य राजाओं और देवताओं पर आक्रमण नहीं करता था। एक दिन रात का समय था। उसकी पतिव्रता धर्मपत्नी 'कयाधू' उसके समीप गयी, उसने जाकर देखा कि स्वामी न सोते हैं न जागते हैं। समाधि की-सी दशा में चिन्ता-ग्रसित बैठे हैं। महारानी कयाधू के जाने पर भी जब दैत्यराज सावधान नहीं हुआ, तब महारानी ने हाथ जोड़कर कहा—'प्राणनाथ! इस समय जब कि दीन-दुखिया प्रजाजन भी अपनी-अपनी चिन्ताओं से निवृत्त होकर आनन्दपूर्वक सो रहे हैं, आप-जैसे परम यशस्वी और प्रतापी सम्राट् किस चिन्ता में लीन हो रहे हैं? भगवन्! क्या मुझ दासी से कहने योग्य कोई बात है जिसके कारण आपने अभी तक इस आनन्ददायिनी शय्या को सुशोभित नहीं किया है?'

हिरण्यकशिपु—'हे सुभगे! अवश्य ही राजनीति में लिखा है कि स्त्रियों के सामने रहस्यमयी कोई भी बात प्रकट न करनी चाहिए, किन्तु जिस विषय की हमको इस समय चिन्ता है उससे तुम्हारा भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम अपनी हृदयगत चिन्ता की बात को तुम्हारे सामने प्रकट करते हैं, किन्तु तुम इसे अपने ही मन में रखना। इसकी किसीसे चर्चा न करना। प्राणप्रिये! जबसे हमारे भ्राता को विष्णु ने वाराहरूप धारण करके मारा है और देवताओं की सहायता की है, तबसे दिनोंदिन देवताओं का उत्साह बढ़ता जा रहा है और हमारे सेनानायकों तक के मन में उदासीनता छायी रहती है। ये लक्षण बुरे हैं। तुम्हारे पुत्र धीर, वीर

और गम्भीर हैं, किन्तु देवताओं का सामना करना उनकी शक्ति के परे की बात है। अनेक बार देवताओं ने ऐसे प्रसङ्ग हमारे प्रति छेड़े कि जिनमें उनके साथ युद्ध करना आवश्यक था किन्तु हमने अपनी परिस्थिति को ध्यान में रख, उन प्रसङ्गों पर युद्ध छिड़ने नहीं दिया और उनको टाल दिया, किन्तु जब शत्रु का उत्साह बढ़ रहा है और वह जानता है कि, हम अपनी परिस्थिति के कारण युद्ध को टाल रहे हैं, तब भावी युद्ध अधिक दिनों तक टाला नहीं जा सकता और युद्ध छिड़ने पर हमको अपना भविष्य भयानक दिखलायी पड़ता है। अतएव हम चिन्तित हैं और सोच रहे हैं कि, इस समय हमको क्या करना चाहिए ?'

कयाधू—'जीवनाधार! आपके विचार यथार्थ हैं। शत्रुओं से विशेषतः अपने भाइयों से जब शत्रुता हो तो अधिक सावधान रहना चाहिए! मेरे विचार में आप मेरे पिताजी की सम्मति से दानवी सेना और दैत्य-सेना को सुसज्जित करके देवताओं पर पुनः एक बार आतङ्क जमावें और उस समय उनसे सन्धि कर लें और ऐसी सन्धि कर लें कि जो स्थायी हो। ऐसा करने से आपकी चिन्ता दूर होगी और दैत्यकुल का भय सदा के लिये जाता रहेगा।'

हिरण्यकशिपु—'वल्लभे! तुम्हारी बातें अवश्य ही नीतियुक्त और विचारणीय हैं। किन्तु इस समय देवताओं का उत्साह ऐसा बढ़ गया है कि, उनपर पुनः आतङ्क जमा लेना सहज काम नहीं है और यदि वे न दबे तो युद्ध की आयोजना करने के

पश्चात् युद्ध न करना हमारे लिये अपकीर्तिकर होगा, जो मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है। युद्ध करने में हमको भय है कि भाई के समान ही विष्णु सम्भव है हमारे ऊपर भी आक्रमण करे। हमको न तो देवताओं का भय है और न हमको युद्ध में मरने ही का भय है किन्तु भाई का बदला न लेकर यों ही मरने से हमारे मन की बात मन ही में रह जायगी। अतएव हमने यह सोच रक्खा है कि, हम शीघ्र ही जाकर एकान्त में तपस्या करें और अमरत्व प्राप्त करने के पश्चात् लौटें। वर प्राप्त करके जब हम लौट आवें तब इन देवताओं तथा इनके पक्षपाती विष्णु की खबर लें। जब तक हम तपस्या से निवृत्त होकर घर को न लौटें तब तक तुम अपनी अवधानता में अपने पुत्रों तथा हमारे सुयोग्य मन्त्रियों और सेनापतियों के द्वारा शासन-सूत्र चलाओ।'

कयाधू—'स्वामिन्! यद्यपि आपका क्षणभर का वियोग मेरे लिये सर्वथा असहनीय है, तथापि आपके तथा अपने हित के लिये ही नहीं, सारे असुरकुल के लिये, आपका विचार अत्यन्त हितकर है। जब देवताओं ने विष्णु का सहारा लिया है, तब आपको भी किसी ईश्वरीय शक्ति का सहारा लेना आवश्यक है। भगवान् करें आप अपनी तपस्या में सफल होकर मुझे शीघ्र ही पुनः अपने चरण की धूलि से कृतकृत्य करें। भगवन्! आपके आज्ञानुसार मेरे पुत्र शासनभार को सँभाल लेंगे, आप किसी प्रकार की भी चिन्ता न करें। भगवान् शङ्कर हम लोगों की रक्षा करेंगे ऐसा मेरा पूरा-पूरा विश्वास है।'

महारानी कयाधू की बातें सुन कर हिरण्यकशिपु बहुत ही प्रसन्न हुआ और वार्ता समाप्त होने पर उसने निश्चिन्त होकर शयन किया। प्रातःकाल उठ कर नित्यनैमित्तिक कृत्यों से निवृत्त हो हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्रों तथा मन्त्रियों को समय से पहले ही बुलवाया। संह्लाद आदि पुत्र तथा राजमन्त्रियों के आ जाने तथा नियमानुसार प्रणामादि के पश्चात् दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने अपना अभिप्राय प्रकट किया और मन्त्रियों पर राजभार सौंप कर अपने पुत्रों को उनके अधिकार में दे सुन्दर सर्वार्थसिद्धिकारक मुहूर्त्त में तपस्या करने के लिये कैलाश पर्वत की यात्रा की। यात्रा के समय यद्यपि अनेक प्रकार के अमङ्गलसूचक अपशकुन पृथिवी और आकाश में देख पड़े और मन्त्रियों ने तथा विद्वान् ब्राह्मणों ने यात्रा को स्थगित करने की सम्मति भी दी किन्तु दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया और अपने विचार पर दृढ़ रह कर यात्रा कर दी। हिरण्यकशिपु अपने थोड़े-से अनुचरों के सहित तप करने के लिये कैलास पर्वत के शिखर पर जा पहुँचा और घोर तप करने लगा। उसकी तपस्या के समाचारों को सुन कर देवताओं के प्राण-पखेरू उड़ने लगे। सारे-के-सारे देवता अपने स्वामी इन्द्र के पास पहुँचे, इन्द्र ने देवताओं की बातें सुनीं और यह जान कर कि हिरण्यकशिपु हम लोगों के साथ युद्ध करने ही के लिये तपस्या कर रहा है, घबड़ा गये। देवताओं के सहित देवराज इन्द्र ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे सारी कथा कह सुनायी। ब्रह्माजी ने द्वेषाग्नि से पीड़ित देवताओं की बातें सुन कर

कहा कि—'आप लोग अपने-अपने स्थान को जाइये। हम इस सम्बन्ध में यथोचित विचार और उपचार करेंगे। आप लोग भयभीत होकर नहीं, शान्तचित्त से भगवान् लक्ष्मीनारायण का स्मरण करें। वे आप लोगों की रक्षा करेंगे।'

देवताओं के चले जाने पर जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी विचारने लगे कि, इस समय हमको क्या करना चाहिए? कौन-सा ऐसा उपाय है जिससे दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपने घोर तप से निवृत्त हो जाय? इस चिन्ता में ब्रह्माजी मग्न ही थे कि, इसी बीच में महर्षि नारदजी जा पहुँचे। नारदजी ने कहा—'पूज्यपाद पितृचरण! आप किस चिन्ता में इस समय लीन हैं? क्या आप दैत्यराज हिरण्यकशिपु की तपस्या को भङ्ग करना चाहते हैं? यदि आप यही चाहते हैं, तो मुझे आज्ञा दें। मैं जाता हूँ और अनायास ही उसको तपस्या से विरक्त किये देता हूँ।' ब्रह्माजी नारदजी के इन वचनों को सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और नारदजी भी आज्ञा लेकर वहाँ से विदा हुए। नारदजी ने मार्ग में पर्वत मुनि को भी साथ में लिया और दोनों ही महर्षि अपनी सिद्धि के प्रभाव से 'कलविङ्क' नामक पक्षी बनकर कैलास के शिखर की ओर चल दिये। थोड़े ही समय में दोनों ही 'कलविङ्क' पक्षी वहाँ पर जा पहुँचे, जहाँ दैत्यराज हिरण्यकशिपु घोर तप में संलग्न था। पक्षियों ने दैत्यराज के समीप में जाकर उच्च स्वर से कहा—'*ओं नमो नारायणाय*।' ध्यानावस्थित दैत्यराज के कर्ण में यह मन्त्र वज्रपात के समान हुआ और विष्णुनाम से उसका ध्यान भंग हो गया किन्तु फिर भी उसने चित्त को शान्त कर लिया और

तपस्या छोड़ी नहीं। कुछ ही समय बाद दोनों ही पक्षियों ने पुनः उच्च स्वर से कहा—*'ओं नमो नारायणाय।'* इस बार दैत्यराज हिरण्यकशिपु से क्रोध सँभारा नहीं गया और उसने तपस्या छोड़ अपना धनुष उठाया और पक्षियों को मारने के लिये बाण चढ़ाया। ज्यों ही दैत्यराज धनुष उठाने लगा त्यों ही महर्षि नारद और पर्वत मुनि दोनों ही जो पक्षी के रूप में थे वहाँ से उड़ गये। पक्षी तो उड़ गये किन्तु हिरण्यकशिपु का क्रोध शान्त नहीं हुआ और वह उसी क्रोध के वशीभूत हो तपस्या को परित्याग कर अपने स्थान को चला आया।

यद्यपि दैत्यराज असफल मनोरथ होने के कारण उदासीन था, तथापि उसके आगमन से राजधानी में आनन्द मनाया जाने लगा। लोग प्रसन्न चित्त से दैत्यराज के दर्शनों को पहुँचने लगे। दैत्यराज ने भी दरबार में अपना अभिप्राय प्रकट नहीं किया और शान्तचित्त से किन्तु उदासीनता के साथ वह राजकाज की देख-भाल करने लगा।

किसी प्रकार दिन बीत गया और रात्रि का समय आया। दैत्यराज भी अपने कार्यों से निवृत्त होकर शयनागार में जा विराजा और महारानी कयाधू भी धीरे-धीरे वहाँ जा पहुँची। महारानी कयाधू उसी दिन ऋतुस्नान से निवृत्त हुई थी और अपने प्राणपति की सेवा के लिये लालायित थी। महारानी कयाधू ने जाकर पति को प्रणाम किया और आज्ञा पाने पर बैठ गयी। दोनों में बातें होने लगीं। और दोनों ही

दाम्पत्यप्रेम में संलग्न हो गये; किन्तु समय पाकर महारानी कयाधू ने कहा—'प्राणनाथ ! आपने चिरकालीन तपस्या के लिये प्रस्थान किया था, किन्तु आप तो शीघ्र ही लौट आये हैं, इसका कारण क्या है ? क्या वह कारण मेरे जानने योग्य है ?'

हिरण्यकशिपु—'हे कामिनि ! हमने अपने मन्त्रियों तथा विद्वान् ब्राह्मणों के वचनों को नहीं माना और भाँति-भाँति के अपशकुनों के होते हुए भी यात्रा की थी; उसका जो फल होना चाहिए था वही हुआ । यही तुम कुशल समझो कि केवल यात्रा ही असफल हुई और कोई विघ्न नहीं हुआ ।'

कयाधू—'स्वामिन् ! क्या तपस्या के योग्य समुचित स्थान नहीं मिला ? अथवा तपस्या में कोई विघ्न उत्पन्न हो गया ?'

हिरण्यकशिपु—'प्राणप्रिये ! तपस्या के लिये स्थान तो बड़ा ही सुन्दर और एकान्त कैलास पर्वत का शिखर था और हमने तपस्या आरम्भ भी कर दी थी । किन्तु जहाँ पर हम तपस्या कर रहे थे वहीं पर दो 'कलविङ्क' पक्षी पहुँच गये और वे ज़ोर-ज़ोर से कहने लगे *'ओं नमो नारायणाय, ओं नमो नारायणाय ।'* एक बार तो हमने अपना क्रोध सँभाला और ध्यान टूटने पर भी हम पुनः ध्यानावस्थित हो गये, किन्तु जब बारम्बार उन दोनों पक्षियों ने हमारे घोर शत्रु के स्तुतिरूपी *'ओं नमो नारायणाय'* मन्त्रका उच्चारण किया, तब तो हमारा क्रोध सीमा से बाहर हो गया और हमने तपस्या करना छोड़ उन पक्षियों को मारने के लिये धनुष-बाण उठाया, किन्तु हमारे

सावधान होने से पहले ही वे दोनों ही पक्षी न जाने किस दिशा की ओर उड़ गये। हमारा क्रोध इतना बढ़ गया था कि, फिर शान्त नहीं हो सका और हमने तपस्या छोड़ घर के लिये प्रस्थान कर दिया। यही कारण है हमारे शीघ्र एवं बिना मनोरथ-सिद्धि के वापस आने का।'

जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने *'ओं नमो नारायणाय'* इस मन्त्र को उच्चारण किया, उसी समय महारानी कयाधू को गर्भाधान हो गया। मन्त्र के प्रभाव से ही उस दैत्यराज के वीर्य और दानवी महारानी कयाधू के गर्भ में एक ऐसा परमभागवत जीव जा पहुँचा जिसकी महिमा आज तक सारा संसार गा रहा है। परमभागवतों की कथाएँ भागवत लोग गाते हैं, किन्तु वह ऐसा परमभागवत था, जिसके यश को आस्तिक एवं नास्तिक सभी लोग गाते हैं और उसीके पदानुगामी बनने तथा अपनी सन्तानों को उसका पदानुगामी बनाने में अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं।

पाठकगण! 'दानवी कयाधू' के गर्भ में वह कौन महापुरुष था? कौन-सा परमभागवत था? कदाचित् आप लोग समझ गये होंगे; किन्तु हम भी स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि वह महापुरुष था हमारा चरित्रनायक परमभागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद। अवश्य ही पूर्वजन्म के सुकृतों के फल से वे दैत्यकुल में उत्पन्न होकर भी, सारे आस्तिक संसार के प्रातःस्मरणीय हुए हैं; किन्तु वस्तुतः उनके गर्भाधान का संस्कार, उनकी परमभागवतता के बढ़ाने एवं प्रसिद्ध करने में अधिक सहायक हुआ होगा, इसमें भी सन्देह नहीं। इसीको

कहते हैं कि 'जैसी हो भवितव्यता, वैसी उपजे बुद्धि ।' हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु के गर्भाधान के समय की घोर सन्ध्या बेला का फल तदनुरूप तथा परमभागवत प्रह्लाद के गर्भाधान के समय का 'नारायण' मन्त्र का उच्चारण और उसका फल देख कर क्या भारतवासी अपने महर्षियों के प्रतिपादित गर्भाधान की शुद्धता और महत्ता का अनुमान करेंगे तथा इन उदाहरणों से अपने तथा अपनी सन्तानों के लिये कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे ?



आठवाँ अध्याय

प्रह्लाद गर्भ में

पुनः तपस्या और देवताओं में हलचल



हारानी कयाधू गर्भवती हैं, इस समाचार को सुन कर दैत्यराज ने अपने आचार्यचरण शुक्राचार्यजी से प्रार्थना की कि आप इस बालक के यथोचित पुंसवनादि संस्कार यथा-समय करावें और मेरे लिये कोई ऐसा यात्रा का सुन्दर मुहूर्त बतलावें कि जिससे मैं सफलता के साथ लौट कर आ सकूँ। दैत्यराज की प्रार्थना सुन कर दैत्याचार्य चुप रह गये। आचार्यचरण के मौनावलम्बन को देख कर दैत्यराज ने कहा कि 'भगवन्! आप मौन क्यों हो रहे हैं? मैंने जो प्रार्थना की है उसके सम्बन्ध में आपने कुछ आज्ञा नहीं दी?'

शुक्राचार्य—'दैत्यराज! अभी हम चुप इस कारण हो गये कि आपने न तो यही बतलाया कि आपकी यात्रा किस दिशा की ओर होगी और न यही बतलाया कि किस कार्य के लिये होगी? और जब तक आप यह विवरण नहीं बतलाते, तब तक ठीक-ठीक मुहूर्त बतलाना सम्भव नहीं।'

हिरण्यकशिपु—'भगवन्! मेरी यात्रा तपोभूमि की ओर उत्तर दिशा को होगी और मेरी यात्रा का उद्देश्य तपस्या द्वारा अपूर्व वर प्राप्त करना होगा।'

शुक्राचार्य–'हे कश्यपपुत्र ! आपके समान इस समय कोई भी भाग्यवान् नहीं। आपको ईश्वर ने दूध-पूत से भरा-पूरा कर रक्खा है। आपका प्रताप सारे जगत् में फैला हुआ है। हमको तो आपमें किसी बात की कमी नहीं प्रतीत होती। फिर आप किस अभिप्राय से राजपाट के इस दुर्लभ सुख को छोड़ कर तपस्या करने के लिये जाना चाहते हैं? हम तो आपसे यहीं कहेंगे कि, आप राजकाज देखें और तपस्या का विचार त्याग दें।'

हिरण्यकशिपु–'आचार्यचरण ! आपने मेरे हित के विचार से जो उपदेश मुझे दिया है वह यथार्थ में मेरे लिये हितकारक नहीं है। आप जानते हैं कि, मेरे सौतेले बन्धुगण मेरे विरुद्ध कैसे-कैसे षड्यन्त्र रचा करते हैं। 'एक तो तितलौकी दूसरे नीम चढ़ी' की कहावत के अनुसार उनको विष्णु सहायक मिल गये हैं। ऐसी दशा में मैं, अपनी वर्तमान शक्तियों से उनका सामना करने में अपने आपको पूर्णतया समर्थ नहीं पाता। अतएव यदि तपस्या द्वारा देवताओं से अभय हो जाऊँ तो मैं अपने असुर-समुदाय को अधिक लाभ पहुँचा सकूँगा तथा अपने प्राण-प्रिय भाई के बध का समुचित बदला ले सकूँगा। भगवन् ! आप सत्य मानिये, जबसे प्यारे भाई हिरण्याक्ष को इन धूर्तों ने धोखे में डाल पाताल में ले जाकर वाराह-रूप-धारी विष्णु द्वारा मरवा डाला है, तबसे मुझे रात-दिन निद्रा नहीं आती और ईर्षा, द्वेष एवं क्रोध से मेरा शरीर जल रहा है। जब तक मैं अपने शत्रुओं को–उनकी गति को नहीं पहुँचा देता और अपने भाई का बदला नहीं

ले लेता, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव आप अब मुझे रोकें नहीं प्रत्युत आज्ञा दें और शुभ मुहूर्त बतला कर आशीर्वाद दें कि, जिससे मैं अपने मनोरथ को प्राप्त कर दैत्यकुल का उद्धार करूँ।'

शुक्राचार्यजी महाराज हिरण्यकशिपु का समुचित हठ देख उसको आशीर्वादपूर्वक तपोभूमि की यात्रा का उत्तम मुहूर्त बतला कर अपने आश्रम को गये और इधर दैत्यराज ने पुनः तपोभूमि के लिये यात्रा की तैयारी की। यात्रा करने के पहले दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपनी महारानी कयाधू से मिलने के लिये अन्तःपुर में गये। महारानी कयाधू भी प्राणपति के शुभागमन का समाचार पाकर बड़ी प्रसन्न हुई और ज्यों ही दैत्यराज ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, त्यों ही उसने आगे जाकर सादर एवं सप्रेम सविनय करबद्ध प्रणाम किया और ले जाकर महाराज को सुन्दर आसन पर आसीन कराया।

हिरण्यकशिपु—'हे देवि! आज हम तुम्हारे पास अधिक समय तक प्रेमालाप करने के लिये नहीं आये हैं। प्रत्युत तपोभूमि की दीर्घ-यात्रा के लिये विदा माँगने आये हैं। तुम हमारी गृहेश्वरी तो हो ही, किन्तु साथ ही प्राणेश्वरी भी हो। हम जानते हैं कि तुम जिस दानवकुल की दुहिता हो, उस कुल के अनुरूप ही तुममें सारे सद्गुण विद्यमान हैं। अतएव अब तुम हमारी दीर्घकालीन अनुपस्थिति में अपने पुत्रों के द्वारा शासन करना और अपने दोनों कुलों की मर्यादा का पालन करना।

महारानी कयाधू ने यात्रा के समय रोकना अशुभ समझ कर साश्रुनयनों से प्राणपति की ओर करुणपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—'नाथ ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; किन्तु इस समय ये देवतागण बड़े ही ढीठ हो रहे हैं और आपकी उपस्थिति में भी जब ये उत्पात करने से नहीं बाज आते और समय-समय पर आक्रमण करने की तैयारियाँ किया करते हैं, तब आपकी दीर्घकालीन यात्रा का समाचार पाकर सम्भव है ये घोर उपद्रव करें। उस दशा में मैं अबला क्या कर सकूँगी।'

हिरण्यकशिपु—'प्राणप्रिये ! तुम ठीक कहती हो; किन्तु यथासम्भव हमारी दीर्घ-यात्रा का समाचार गुप्त रखना और अपने पिताजी को भी सावधान कर देना। यदि हमारी अनुपस्थिति में देवतागण कायरों और चोर डाकुओं की तरह आक्रमण करेंगे तो भगवान् तुम्हारी रक्षा करेंगे और मैं लौट कर उनको उसका मजा चखाऊँगा।'

महारानी कयाधू से विदा हो दैत्यराज हिरण्यकशिपु दरबार में आये और मन्त्रियों तथा पुत्रों को राजभार सौंपा। यात्रा के समय आचार्यगण उपस्थित थे और सभी विद्वान् ब्राह्मण यात्रा की मङ्गलकामना करते थे। इस बार दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने मन्दराचल की कन्दरा की ओर यात्रा की। वहाँ जाकर दैत्य-राज ने ऐसा भीषण तप करना आरम्भ किया कि जैसा कभी किसी देव, दानव अथवा दैत्य ने नहीं किया था। उसकी तपस्या का समाचार धीरे-धीरे फैलते-फैलते सर्वत्र फैल गया और देवताओं

में बड़ी खलबली मच गयी। सुर हों, चाहे असुर, जब तक भोगों से वैराग्य नहीं होता, तब तक स्वार्थी जगत् की चिन्ताएँ कभी दूर नहीं हो सकतीं और उनके रहते कभी कोई सुखी एवं शान्त नहीं हो सकता। यही देवताओं की दशा थी। उनको चिन्ता थी कि ऐसा न हो कि कोई ऐसी तपस्या करे, जिससे हमारे ऊपर विपत्ति आ पड़े। इसी कारण से अपने प्रबल शत्रु दैत्यराज हिरण्यकशिपु की तपस्या के समाचार से देवताओं में हाहाकार मच गया और उनको नींद का आना दुर्लभ हो गया, उनके लिये शान्ति की प्राप्ति असम्भव हो गयी और उन्हें चारों ओर भय दिखलायी देने लगा। इधर हिरण्यकशिपु की तपस्या भी अद्भुत थी। वह बिना अन्न-जल के आकाशमण्डल की ओर टकटकी लगाये हुए अपने बाहुओं को ऊपर की ओर उठा कर केवल एक अँगूठे पर ही खड़ा रहता था। इस प्रकार के कठिन तप के प्रभाव से सारे संसार में हलचल मच गयी, देवसमाज में भय और चिन्ता छा गयी, नदी और नदियों के जल सूख गये, भूकम्प एवं ज्वालामुखी के प्रकोप बारम्बार होने लगे, जिससे बड़े-बड़े अचल पर्वत भी हिलने, डोलने तथा उड़-उड़कर दूर गिरने लगे, समुद्र मानों खौलने लगे, उल्कापात ही नहीं, बड़े-बड़े तारे भी बहुतायत से गिरने लगे और दिग्दाह से मानों दशों दिशाएँ जलने लगीं।

इन उत्पातों को अपने लिये अशुभ समझ कर भयभीत हो देवता लोग जगत्पिता ब्रह्माजी के शरण में गये। ब्रह्माजी ने देवताओं को सत्कारपूर्वक बिठाया। देवताओं ने जगत्स्रष्टा ब्रह्मा-

जी को सादर एवं सविनय प्रणाम करने के पश्चात् अपनी कथा सुनानी आरम्भ की। देवराज इन्द्र ने कहा—'हे सर्व जगत् के पितामह! हम लोगों को आजकल दैत्यराज हिरण्यकशिपु की तपस्या से बड़ा ही कष्ट और भविष्य के लिये भय हो रहा है। हम लोगों को पता चला है कि वह इस बार तपस्या द्वारा अमरत्व प्राप्त करना चाहता है और हम लोगों ने यह भी सुना है कि वह अमरत्व प्राप्त करने के पश्चात् हम लोगों के रक्षक भगवान् विष्णु ही को मार डालने का विचार किये हुए है। भगवन्! यदि ऐसा हुआ तो हम लोगों को तो फिर कहीं ठिकाना न रहेगा। तीनों लोक और चौदहों भुवन में तो हम लोगों को फिर कोई दूसरा आश्रयदाता न मिलेगा।'

देवताओं को आश्वासन देते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि—'आप लोग भयभीत न हों। भगवान् विष्णु को मारनेवाला कोई नहीं है और ऐसा विचार करना नितान्त मूर्खता है। आप लोग शान्तचित्त से अपने-अपने स्थानों को जायँ। हम तथा भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करेंगे, आप लोग घबड़ाइये नहीं।' देवता लोग अपने-अपने स्थान को गये, किन्तु देवराज इन्द्र को धैर्य नहीं हुआ और उन्होंने जाकर मन्दराचल में दैत्यराज को तपस्या करते हुए स्वयं देखा। उन्होंने देखा कि वह कठिन तपस्या के कारण मृतप्राय हो रहा है। उसके शरीर में न रक्त है, न मांस। वह सूख कर ठठरी हो गया है, शरीर में केवल हड्डियाँ रह गयी हैं। हड्डियों पर भी चींटियों ने अपने घर बना लिये हैं। दीमकों ने

चारों ओर अपना आधिपत्य जमा रक्खा है और कहीं पर कोई चेतनता के चिह्न दिखलायी नहीं पड़ते। ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी काठ के खम्भे में दीमक लग गयी है और वह निकम्मा हो गया है। दैत्यराज हिरण्यकशिपु की यह दशा देख कर, देवराज इन्द्र मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए और कुछ और ही सोचते हुए अपने स्थान को लौट गये।



नवाँ अध्याय

देवताओं का हिरण्यपुर पर आक्रमण

महारानी कयाधू का हरण



वराज इन्द्र, हिरण्यकशिपु की दशा देख कर जब अपने स्थान पर पहुँचे तब उन्होंने अपने मन्त्रिवर्ग को बुलाया और उनसे परामर्श किया। सभी लोग एकमत हुए कि इस समय जब कि हिरण्यकशिपु तपस्या के कारण निर्जीव-सा हो रहा है, हम लोग यदि उसकी राजधानी 'हिरण्यपुर' पर आक्रमण करें, तो अपने नैसर्गिक शत्रु—असुर-समुदाय को सदा के लिये नष्ट-भ्रष्ट कर सारे संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं। पहले तो उस मृतप्राय हिरण्यकशिपु के लौटने की आशा नहीं, फिर यदि वह लौटेगा भी, तो निःसहाय होने के कारण उससे हम लोगों को कोई भय न होगा। ऐसी मन्त्रणा कर देवराज इन्द्र ने शीघ्र ही अपने दलबल के साथ सहसा हिरण्यपुर पर घोर आक्रमण किया।

हिरण्यकशिपु की अनुपस्थिति में उसकी राजधानी पर सहसा आक्रमण होने से असुरों को बड़ी चिन्ता हुई। एक तो जब से हिरण्याक्ष का बध हुआ था तभी से असुरों के हृदय में देवताओं

की ओर से भय बना रहता था, दूसरे जो एकमात्र सहारा था वह दैत्यराज हिरण्यकशिपु भी तपस्या कर रहा है। इस कारण असुरों की सेना में उत्साह नहीं था। महारानी कयाधू के उत्साहित करने पर देवताओं की सेना के सामने ये लोग गये अवश्य; किन्तु हतोत्साह होने के कारण उनका सामना करने में असमर्थ रहे। थोड़े ही दिनों की लड़ाई में राजकुमारोंने आत्मसमर्पण कर दिया और असुर-सेनापति भी बाँध लिये गये। न जाने कितने असुर लड़ाई में मारे गये और कितने ही के अङ्ग भङ्ग हुए। अधिकांश असुर भाग-भाग कर घोर वनों तथा गिरिकन्दराओं में जा छिपे।

अनायास प्राप्त अपने इस अपूर्व विजय से देवराज इन्द्र तथा उनके सहायकों का मन बढ़ गया और वे मदान्ध एवं क्रोध के वशीभूत होकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अन्तःपुर में घुसने को उद्यत हुए। कुछ चतुर एवं न्यायप्रिय मन्त्रियों ने उनको इस अनुचित कार्य करने से रोका भी, किन्तु देवराज, विजय के मद से मतवाले हो रहे थे अतः उन्होंने किसी की कुछ नहीं सुनी। अन्तःपुर में जा, देवराज इन्द्र ने वह काम किया कि जो देवताओं के लिये सर्वथा निन्दनीय था। उन्होंने दैत्यराज के अन्तःपुर को जला कर भस्म कर दिया और उनके सारे ऐश्वर्य को लूट लिया। इतना ही नहीं, परम सती गर्भवती महारानी कयाधू को भी वे बरजोरी पकड़ ले चले। महारानी कयाधू ने करुण-क्रन्दन कर अपने छुटकारे की प्रार्थना की और गर्भवती होने के कारण अपने

को पाँवपियादे चलने में असमर्थ बतलाया; किन्तु देवराज तो मदान्ध हो रहे थे, उनको तो अपने अपूर्व एवं अनायास विजय का नशा चढ़ा था, अतएव उन्होंने महारानी कयाधू की करुणपूर्ण समुचित प्रार्थनाओं की भी अवहेलना की और चलते बने। मार्ग में महारानी कयाधू के करुण-क्रन्दन से सभी सहृदय प्राणी दुखित होते थे, किन्तु मदान्ध देवराज के सामने जाकर कुछ कहने की कोई भी हिम्मत न करता था।

संयोगवश, मार्ग में महर्षि नारदजी मिल गये। महारानी कयाधू की करुण-वाणी, उनका विलाप और उनकी दशा ने महर्षि नारदजी को बीच में पड़ने के लिये बाध्य किया। महर्षि नारद को किसका भय था? वे तुरन्त खड़े हो गये और देवराज इन्द्र से कहा—'हे विजयी सुरराज! सावधान! विजय के मद में तुम-जैसे वीरों को मदान्ध हो जाना उचित नहीं। यही समय है, जब तुम्हें अपनी क्षमाशीलता का परिचय देना चाहिए। असुर तुम्हारे शत्रु हैं। तुमने उनपर इस समय कायरों के समान आक्रमण किया है, जिस समय उनका अगुआ तपस्या में लीन है। ऐसी दशा में विजय की महत्ता कितनी है, इसको तुम्हारा हृदय स्वयं स्वीकार करता होगा, फिर भी तुम इतने मदान्ध क्यों हो गये हो कि, इस परम साध्वी गर्भवती महारानी कयाधू को पकड़ कर ले जा रहे हो और पाँवपियादे ले जा रहे हो! तुमको स्मरण रखना चाहिए कि अपने ही पाप को लोग दुःख के रूप में भोगते हैं और अभिमान तो भगवान् का आहार है। तुमको ऐसा दुष्कार्य नहीं करना चाहिए कि, जिसे कल जब

हिरण्यकशिपु तपस्या द्वारा अमोघ वरदान प्राप्त कर लौटे और तुमको पराजित करे, तब लोग कहें कि तुमको तुम्हारे ही पापों का फल मिल रहा है। हे देवराज! इस साध्वी को तुरन्त छोड़ दो और सावधान होकर सीधे अपने स्थान को चले जाओ।'

देवराज इन्द्र—'भगवन्! आपकी आज्ञा का पालन करना मेरा परमधर्म है और आपकी आज्ञाएँ मेरे लिये सदैव कल्याणप्रद होती हैं, किन्तु आज जो आप इस दानवपुत्री कयाधू पर दयार्द्र हो रहे हैं और इसको छुड़ाने की आज्ञा दे रहे हैं इसमें कुछ मुझे कहना है। महर्षिवर! दानव और दैत्यकुल हम लोगों के कैसे शत्रु हैं यह आपसे छिपा हुआ नहीं है। इस युद्ध में मैंने सारे असुर-कुल का संहार कर दिया है, जो बचे हैं वे बन्दी के रूप में हैं, अथवा कायरों के समान लुक-छिप कर अपनी जान बचा सके हैं। कायरों से भय नहीं और जो बन्दी हैं उनसे भी भय नहीं; किन्तु इस दानवतनया कयाधू के उदर में गर्भ है और इसलिये मैं इसको ले जा रहा हूँ कि, जिसमें इसके गर्भ से उत्पन्न दैत्यराजकुमार हम लोगों के लिये आगे बाधक न हो। नीति में लिखा है कि शत्रु को निःशेष ही करके शान्त होना चाहिए। शत्रु पर दया करना, दया नहीं—कायरता है।'

महर्षि नारद—'हे सुरपते! तुम भूलते हो, इस साध्वी के गर्भ में जो बालक है, उसकी महिमा तुम नहीं जानते! इसके गर्भ में परमभागवत बालक है और उसके द्वारा न केवल देवताओं का, प्रत्युत सारे जगत् का कल्याण होगा और अधर्ममूलक असुरों का संहार

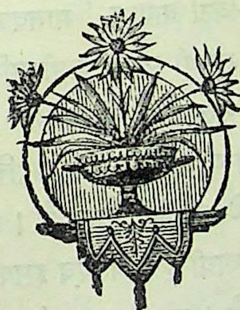
होगा ! तुम इस साध्वी को तुरन्त छोड़ दो और अपने अपराध के लिये इस साध्वी से तुरन्त क्षमा की याचना करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।'

महर्षि नारद के आज्ञानुसार देवराज इन्द्र ने महारानी कयाधू को छोड़ दिया और उनसे अपने अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना की। महारानी कयाधू ने सजल-नयन तथास्तु कह कर अपना पिण्ड छुड़ाया। महारानी असहाय और अत्यन्त भयभीत थीं। महर्षि नारद के बारम्बार सान्त्वना देने पर भी वह घबड़ाई हुई थरथर काँप रही थीं। उनकी यह दशा देख महर्षि नारदजी ने कहा—'बेटी ! घबड़ाने का कोई कारण नहीं, वीरपत्नियों को न जाने कैसे-कैसे सङ्कटमय समय काटने पड़ते हैं और अन्त में सुख-सम्पत्ति का उपभोग प्राप्त होता है। तुम धैर्य धारण करो, शीघ्र ही तुम्हारे प्राणपति दैत्यराज मनवाञ्छित वर प्राप्त करके आवेंगे और तुम्हारे सौभाग्य को सुशोभित करेंगे। वे अपने वरदान के प्रभाव से संसारभर का साम्राज्य पुनः प्राप्त करेंगे। देव, दानव ही नहीं, सारे दिग्पाल भी आशाभरी दृष्टियों से उनकी सेवा करेंगे और तीनों लोक तथा चौदहों भुवन में उनके विजय का डंका बजेगा। इतना ही नहीं, तुम्हारे इस गर्भ से जो बालक उत्पन्न होगा, वह तुम्हारे आगे और पीछे की न जाने कितनी पीढ़ियों को तारनेवाला होगा एवं उस पुत्र के द्वारा तुम्हारा दैत्यकुल संसार में अनन्त काल तक प्रसिद्ध और प्रशंसित रहेगा। यदि तुम भयभीत हो और इस समय राज-पाट छिन जाने तथा घर-

द्वार नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से तथा देवताओं के आतङ्क से तुमको कष्ट और भय हो तो भी तुमको घबड़ाने का कोई कारण नहीं। तुम हमारे साथ हमारे आश्रम में चलो और सुख-शान्ति के साथ रहो। हे बेटी दानवसुता ! तुम अधीर मत होओ। जब तुम्हारे पतिदेव तपस्या से लौट कर आवेंगे, तब हम तुमको उनकी सेवा में सुखपूर्वक पहुँचा देंगे।'

महर्षि नारद के आज्ञानुसार महारानी कयाधू उनके आश्रम को गयीं और उनकी पर्णकुटीर में रहने लगीं। यद्यपि प्रसव-समय धीरे-धीरे समीप आने लगा तथापि महारानी कयाधू को प्रसव की चिन्ता न थी। क्योंकि महर्षि नारद की कृपा से उनको 'इच्छा-प्रसव' की शक्ति प्राप्त हो चुकी थी और वे निश्चिन्त थीं; किन्तु दैत्यराज हिरण्यकशिपु की पटरानी और दानवराज जम्भ की दुलारी पुत्री, जो सदा राजभवनों में निवास करती थीं, सैकड़ों दासियाँ जिनकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती थीं और संसार का कोई ऐश्वर्य ऐसा न था, जो उनके पैरों पर लोटता न रहा हो, वही आज जङ्गल की एक कुटी में महर्षि नारद की कृपा से अकेली कालक्षेप कर रही हैं। यह कुटिल काल की गति और संसार के विचित्र विधाता की विचित्र मति के अतिरिक्त और क्या है ? महर्षि नारद के वचनों से महारानी कयाधू बड़ी ही धीरता के साथ अपना कालक्षेप कर रही थीं। फिर भी समय नहीं कटता था और कभी-कभी एकान्त में वह बहुत ही उदास और चिन्तित दीख पड़ती थीं। उनको चिन्तित देख कर एक दिन महर्षि नारदजी ने कहा—'हे बेटी ! तुम चिन्ता मत करो।

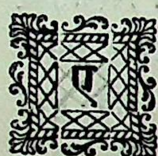
तुम्हारे दिन शीघ्र ही लौटनेवाले हैं।' महर्षि नारद के वचनों को सुन कर महारानी कयाधू ने कहा कि—'भगवन् ! मैं अपने शारीरिक सुख के लिये चिन्तित नहीं, मेरे पुत्रों को देवराज इन्द्र ने बन्दी बना लिया था, मेरे न जाने कितने पितृकुल के सगे-सम्बन्धी बन्दी बन गये थे, उनकी क्या दशा होगी ? मुझे इसी बात की चिन्ता रहती है। मुझे आपके वचनों पर और आपके आशीर्वाद पर पूरा विश्वास है अतएव मुझे प्राणपति दैत्यराज की चिन्ता नहीं।' इस प्रकार समय-समय पर महर्षि नारद और महारानी कयाधू के बीच बातें हुआ करती थीं और समय भी अपनी अप्रतिहत गति से आगे बढ़ता चला जाता था।



दशवाँ अध्याय

महारानी कयाधू को महर्षि नारद का महोपदेश

गर्भस्थ प्रह्लाद को ज्ञानप्राप्ति



क दिन जब कि, गर्भस्थ प्रह्लाद अधिक चैतन्य हो चुके थे और पूर्वजन्म के प्रभाव से उनको श्रवणादि विषयों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो चुका था, तब महर्षि नारदजी ने एकान्त में महारानी कयाधू को सम्बोधित करके, बहाने से, गर्भस्थ बालक प्रह्लाद को ज्ञान का मर्म सुनाया था। महर्षि नारदजी ने जो महोपदेश दिया था वह संक्षेप में इस प्रकार था—

महर्षि नारद—'बेटी कयाधू ! मानवजीवन क्षणभङ्गुर है। अतएव इस शरीर को स्थायी समझ किसी धार्मिक कार्य को टालते हुए व्यर्थ कालक्षेप करना भूल है। बालकपन से ही जो भगवान् लक्ष्मीनारायण की अनन्य भक्ति अथवा प्रपत्ति (शरणागति) में लग जाता है वही बड़ा पण्डित और ज्ञानी है। यह मनुष्य-जन्म महा दुर्लभ होने पर भी अस्थायी है। अतएव इसका सदुपयोग करना ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है। इस असार संसार में मानव-जीवन के लिये सबसे श्रेष्ठ भगवच्चरणारविन्द की शरणागति है। शास्त्रों में भगवान् विष्णु की छः प्रकार की शरणागति कही गयी है। परब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णु, सर्वव्यापी, समस्त आत्माओं के प्रिय

और सुहृद् हैं। उनके यहाँ किसी जाति, किसी अवस्था और किसी लिंग का भेद-भाव नहीं है। भगवान् की प्रपत्ति-साधना में मनुष्यमात्र अधिकारी हैं*। अर्थात् इस भागवत धर्म में, इस प्रपत्ति-योग में ब्राह्मण आदि वर्ण एवं जाति की उत्तमता अपेक्षित नहीं है, स्त्री, पुरुष आदि की विशेषता नहीं है और ब्रह्मचर्यादि व्रत, उदारता आदि गुण, पुण्यदेश-पुण्यतीर्थस्थानादि, पुण्य काल के पर्व, यज्ञादि उत्तम कार्य तथा अवस्थाविशेष भी अपेक्षित नहीं हैं। अर्थात् प्रपत्तियोग में, भागवत धर्म में एवं भगवान् विष्णु की शरणागति में; सभी जाति, सभी आश्रम और सभी अवस्था के मनुष्य अधिकारी हैं। किसी देश, स्थान, समय एवं गुणविशेष की नाममात्र के लिये भी आवश्यकता नहीं है। केवल दृढ़ विश्वास-पूर्वक शरणागत होने की आवश्यकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज आदि सभी जाति के लोग तथा स्त्री एवं बालक भी परमपिता परमेश्वर की प्रपत्ति करते हैं। इसी कारण साधुजन, सभी प्राणियों को प्रपत्ति का उपदेश देते हैं और यथासम्भव सभी प्राणियों को प्रपन्न बनाने की चेष्टा करते हैं। यदि बीच में कोई अपाय (विघ्न) न आ पड़े तो प्रपत्ति का फल मानव-जीवनको सबसे अधिक शीघ्र फलदायी होता है और विघ्न आ जाने पर भी

---

* प्राप्तुमिच्छन्परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत्॥
न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥
(नारदपञ्चरात्र-भारद्वाज सं०)

वह निष्फल नहीं जाता। फल में समय का विलम्ब भले ही हो जाय, किन्तु प्रपत्ति का फल अक्षय है। वह नष्ट नहीं होता और प्रपन्न (शरणागत) को एक-न-एक दिन अवश्य ही मिलता है।'

महारानी कयाधू—'भगवन्! मेरा दानवकुल में जन्म हुआ और मैं दैत्यराज की राजमहिषी हूँ। अतएव मैं इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। आपने मुझे भगवत्प्रपत्ति अथवा भगवान् विष्णु की शरणागति के जो छः भेद बतलाये हैं वे कौन-कौन-से हैं और उनका पालन कैसे होता है? इसके बतलाने की भी आप कृपा करें।'

महर्षि नारद—'बेटी! दानवपुत्रि! तुमने शरणागति के छः भेदों को ठीक ही पूछा है। जब तक श्रोता, वक्ता के कथन को आद्योपान्त यथार्थरूप से समझ नहीं लेता तब तक वक्ता का परिश्रम सफल नहीं होता। अतएव तुमने हमारे कथन को सर्वांश में समझने की चेष्टा की है। यह प्रसन्नता की बात है। बेटी कयाधू! शरणागति के छः भेद नहीं, छः अङ्ग हैं।

प्रपत्तिरानुकूल्यस्य संङ्कल्पोऽप्रतिकूलता।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यामिति षड्विधा॥

(भारद्वाजसंहिता)

अर्थात् अष्टाङ्गयोग के अनुसार प्रपत्ति के छः अङ्गों को छः भेद के नाम से पुकारा गया है। भगवान् की अनुकूलता का संकल्प करना, भगवान् की प्रतिकूलता का वर्जन करना, भगवान् अवश्य ही हमारी रक्षा करेंगे, यह दृढ़ विश्वास रखना, रक्षक के रूप में भगवान् का वरण करना, भगवच्चरणारविन्द में आत्मसमर्पण करना और अपने आपको सर्वथा असमर्थ जानना, इन्हीं

छः अङ्गों के सहित प्रपत्ति के अर्थात् शरणागति-धर्म के अनेक भेद माने गये हैं, जो कर्ता के स्वभावादि के भेद से सम्बन्ध रखते हैं।

कायिकी, वाचिकी एवं मानसी रूप में शरणागति तीन प्रकार की मानी गयी है और उन तीनों में भी एक-एक के गुण-भेद से तीन-तीन प्रकार माने गये हैं। जैसे सात्त्विक-कायिकी, राजसिक-कायिकी, तामसिक-कायिकी—ये तीन भेद कायिकी शरणागति के हैं। सात्त्विक-वाचिकी, राजसिक-वाचिकी, तामसिक-वाचिकी—ये तीन भेद वाचिकी शरणागति के हैं और सात्त्विक-मानसी, राजसिक-मानसी, तामसिक-मानसी—ये तीन भेद मानसी शरणागति के हैं। हे बेटी! इन प्रपत्तियों के लक्षण का वर्णन शास्त्रों में बड़े विस्तार से किया गया है, किन्तु संक्षेपतः उनका सारांश हम तुमको सुनाते हैं ध्यान देकर सुनो। भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणामादि करना, भगवान् के शङ्ख, चक्र आदि के चिह्न को धारण करना और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि से शरीर को प्रपत्ति-चिह्नों से चिह्नित करना-कराना कायिकी-प्रपत्ति है। जो चिह्न स्वयं धारण करने के हैं * उनको स्वयं धारण करना और जो आचार्यचरणों द्वारा धारण करने योग्य हैं † उनको आचार्यचरणों द्वारा धारण करना चाहिये। जो भगवत्प्रपन्न आचार्य-चरणों के उपदेशानुसार उनके अधीन होकर मन्त्रार्थ को भलीभाँति न जान कर भी भगवन्मन्त्रों का मूलमन्त्र उच्चारण करते हैं उनकी प्रपत्ति वाचिकी-प्रपत्ति के नाम से कही जाती है और भगवान् के आयुधादि चिह्नों से युक्त जो प्रपन्न अपने आचार्यचरणों के द्वारा

* तिलकादि। † शङ्ख-चक्रादि।

मूलमन्त्र के अर्थ को प्राप्त करते हैं और उस मन्त्रार्थ का अनुसन्धान-पूर्वक आचार्य के आज्ञानुसार आनुकूल्य आदि प्रपत्ति के छहों अङ्गों को धारण करते हैं उन प्रपन्नों की शरणागति मानसी शरणागति कहलाती है।

बेटी कयाधू! इन प्रपत्तियों में जो सात्त्विकी, राजसी और तामसी के रूप में भेद किये गये हैं, उनको अब हम कहेंगे। तुम ध्यान देकर सुनना। छहों अङ्गों से युक्त उन कायिकी, वाचिकी और मानसी प्रपत्तियों के तीन-तीन भेद इस प्रकार माने गये हैं कि जो प्रपत्ति मोक्ष-प्राप्ति की विरोधिनी तामसी होती है, उसके कर्ता के हार्दिक भाव, भूतद्रोहात्मक भूतहिंसादि की इच्छा से प्रेरित होकर सर्वभूतानुकम्पी, सर्वजीव-दयापर भगवान् विष्णु के प्रपन्न होते हैं। जो प्रपत्ति राजसी के नाम से कही गयी है, उसके कर्त्ता के हार्दिक भाव, ऐहिक और आमुष्मिक—इहलोक और परलोक के नाना प्रकार के भोगों को प्राप्त करने की इच्छा से अकामैकवत्सल, निष्काम के एकमात्र प्रिय, इन्द्रियगण के नियन्ता भगवान् हृषीकेश के प्रपन्न होते हैं और जो प्रपत्ति सात्त्विकी नाम से कही गयी है, उसके कर्ता के हार्दिक भाव, समस्त त्रैवर्गिक—आर्थिक, कामिक, धार्मिक कामनाओं से परे शुद्ध दास्यभाव भगवत्कैङ्कर्यरूपी फल की इच्छावाले होते हैं। इन तीनों शरणागतियों में तामसी-शरणागति निन्दनीय, राजसी साधारण और सात्त्विकी उत्तम मानी गयी है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी जाति का हो, किसी धर्म का हो, किसी

अवस्था का हो और चाहे किसी भी देश का हो भगवच्चरणारविन्द की अनन्यभक्ति, भगवच्चरणारविन्द की शरणागति—सात्त्विकी-शरणागति कायिक, वाचिक और मानसिक रूपों से अवश्य ही करनी चाहिए। मानव-जीवन के लिये संसार में भगवच्छरणागति से बढ़ कर कोई दूसरा श्रेयस्कर कार्य त्रिकाल में भी नहीं हो सकता।'

महारानी कयाधू—'भगवन्! आपके ज्ञानामृत उपदेश से मेरी तृप्ति नहीं होती और पुनः-पुनः अधिकाधिक उपदेश सुनने की इच्छा बढ़ रही है, आपने जो शरणागति-धर्म का वर्णन किया, इसमें सन्देह नहीं कि, आपके कथनानुसार उससे बढ़ कर कोई उपाय नहीं, जो मानव-जीवन को सार्थक बनावे, किन्तु उसकी साधना के लिये हम-जैसी अबला, दानव-दुहिता एवं दैत्य-जाया के लिये क्या कर्तव्य है? यह अभी तक मेरी समझ में नहीं आया, कृपया बतलाइये।'

महर्षि नारद—'हे दैत्यराजमहिषी! इन्द्रियों के जो सुख हैं सो शरीर के सम्बन्ध से देहधारीमात्र को सभी योनियों में भाग्यानुसार प्राप्त होते हैं, किन्तु भगवान् की भक्ति एवं प्रपत्ति, आचार्य द्वारा इसी मानव-शरीर को प्राप्त होती है, अन्य योनियों को नहीं। सुख का तो दुःख की तरह ही अपनी अनिच्छा से भी प्राप्त होना सम्भव है। अतएव भगवद्भक्ति की ओर जो ध्यान न देकर सुख की इच्छा से प्रयत्नशील देखे जाते हैं वे ज्ञानी नहीं कहे जा सकते। क्षण-क्षण में मानव-जीवन बड़ी तेजी से क्षीण हो रहा है। इसको व्यर्थ न जाने देना चाहिए और शीघ्रातिशीघ्र

भगवान् की शरणागति द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय करना चाहिये। जब तक शरीर में शक्ति है, जब तक कोई विपत्ति न आ पड़े, तब तक काल की कुटिल गति से डर कर शीघ्रता के साथ मोक्ष के अर्थ प्रयत्नशील होना चाहिए। वेदों में पुरुष की एक शत वर्ष की आयु कही गयी है। अपने-अपने युग और योनि के अनुसार इसमें भले ही अन्तर होता रहे, किन्तु माध्यम मान से पुरुष को 'शतायुर्वै पुरुषः' कहा गया है। यदि हम शत वर्ष आयु मान लें तो आधे आयु का भाग रात्रि में शयनादि में व्यर्थ व्यतीत होता है। बालपने के बीस वर्ष भी मोहवश खेल-तमाशे और अज्ञान-दशा में बीतते हैं। वृद्धावस्था के अन्तिम बीस वर्ष भी जराग्रसित असमर्थ-दशा में व्यतीत होते हैं और शेष आयु का भाग भी युवावस्था के कामादि शत्रुओं के द्वारा निरर्थक और चिन्तित दशा ही में व्यतीत हो जाता है। कभी ऐसा समय नहीं आता कि पुरुष, धीर गम्भीर होकर अपने आपको मानव-जीवन के झञ्झटों से छूटा हुआ पावे। अतएव गृहकार्यों में आसक्त रह कर कोई भी पुरुष जितेन्द्रिय हो मायामोहरूपी फाँसी से अपने आत्मा को छुड़ा सके, यह कभी सम्भव नहीं। प्राणों से भी अधिक प्यारी मनुष्यों की धनतृष्णा कभी त्यागी नहीं जा सकती और धनोपार्जन द्वारा यदि कोई धनतृष्णा को शान्त करना चाहे, तो सर्वथा भूल है। जैसे साहूकार यदि चोरों को अपना पहरुआ बना कर अपने धन की रक्षा कराना चाहे तो भूल है, वैसे ही जो प्राणी धन प्राप्त करके धनतृष्णा को शान्त करना चाहते हैं, वे

भूलते हैं। दयालु एवं प्यारी स्त्रियों का रहस्यमय भाषण, सुन्दर परामर्श और दाम्पत्य-सुख तथा बालकों की मनोहर वाणियाँ और सुहृदों के वियोगादिजनित दुःख जिसके चित्त को फँसा रखते हैं वे कभी शरणागति के द्वारा त्याग प्राप्त नहीं कर सकते। मानवजन, मायामोह में पड़ कर भगवत्प्रपत्ति के बिना पुत्रों के स्मरण, बेटियों की चिन्ता, भाई-बहिन, दीन मा-बाप और मनोहर घरबार की ममता तथा पशुगण एवं परम्परा से चले आये परिकरों का स्नेह कभी छोड़ा नहीं जा सकता। मनुष्यगण, रेशम के कीड़े के समान लोभ-वश चेष्टा किया करते हैं। जिनका अन्त नहीं ऐसे जिह्वा और शिश्न के विषयों का वे सेवन करते हैं। वे न कभी तृप्त हो सकते हैं और न उनको उन विषय-वासनाओं से कभी छुटकारा मिल सकता है। जो प्राणी अपने कुटुम्बपालन, परिकर-परिपोषण तथा अपने परिवार में माया-मोह-वश रमण करते तीनों तापों से परितप्त हैं वे कभी भी सांसारिक बन्धनों से छुटकारा नहीं पा सकते हैं। इस प्रकार तरह-तरह के मायामोह में पड़ कर वैकुण्ठ जाने की चेष्टा न कर न जाने कितने प्राणी अपने जाने-अनजाने पापों के कारण घोर नरक में गिरते हैं। जो नर कभी दीन नहीं रहते वे भी न जाने किस कर्म-विपाक से अपनी शरीर-रक्षा में असमर्थ होकर भी कामिनियों के विहार में पड़ते हैं और बेड़ी के समान उस नारीबन्धन से छुटकारा नहीं पाते। अतएव अपने आत्मा के उद्धार के लिये अपने शरीर को सफल एवं जीवन को जीवन बनाने के लिये प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि वह आसुरी माया-

मोह को त्याग कमलपत्र के समान गार्हस्थ्य जीवन में भी विरक्त भाव से रह कर देवादिदेव जगत्पिता लक्ष्मीनारायण के चरणारविन्द की शरणागति के द्वारा मोक्षपद को प्राप्त करे।

बेटी कयाधू ! हमारे विस्तृत वर्णन से तुम घबड़ा-सी गयी हो, पर तुमको घबड़ाना नहीं चाहिए। भगवान् अच्युत के प्रसन्न करने में न कोई परिश्रम है, न कुछ भी कठिनाई है और न कोई बाधा है। वे तो जीवमात्र में व्यापक परमात्मा हैं और सब तरह से सिद्ध हैं। पर-अपर जीवों में ब्रह्मा से लेकर स्थावर-जङ्गम सभी में तथा पाञ्चभौतिक विकारों में समानरूप से परमात्मा को देखो। सबके प्रति प्रीति करना ही उसकी वास्तविक उपासना है। सभी गुणों में, गुणों की बराबरी में, गुणों के उलट-पलट में एकमात्र वही परमात्मा है, अविनाशी ईश्वर है। उसीकी शरणागति और उसीका भजन करना ईश्वर की परम उपासना है। सबके आत्मस्वरूप, देखने के योग्य स्वरूप से वे कभी व्याप्य-व्यापक निर्देश योग्य कभी दिखलायी नहीं पड़ते। क्योंकि वे तो सङ्कल्प-विकल्पहीन ब्रह्म हैं न? अतएव वे केवल माया से अपने सभी ऐश्वर्यों को छिपा रखते हैं और अनुभव से आनन्द-स्वरूप परमेश्वर, गुणों के रचनेवाली माया से ही जाने जाते हैं। इसलिये जीवमात्र में दया करना, सुहृदता करना और सर्वत्र ईश्वर को सर्वव्यापी रूप से देखना ही ईश्वर की परम उपासना है। अनन्त, आदिदेव, भगवान् लक्ष्मीनारायण यदि प्रसन्न हो जायँ तो सभी वस्तु प्राप्त हो सकती हैं। धर्म, अर्थ और काम जो

अपने आप सिद्ध हैं उनको या उनके सहायक गुणों को जो निर्गुण की चाहना करनेवाले भगवत्प्रपन्न हैं कभी भी सेवन नहीं करते और न उनके प्राप्ति की इच्छा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम को त्रिवर्ग कहते हैं। आत्मा, विद्या, वेदत्रयी, नीतिदण्ड और अनेक प्रकार की वार्ताओं से युक्त जो ज्ञान हैं सो वेद के सार हैं; परन्तु इनसे भी सारातिसार सर्वश्रेष्ठ है भगवच्चरणारविन्द की शरणागति को प्राप्त करना, अतएव सभी सांसारिक बन्धनों को मिथ्या मानते हुए भगवान् को सर्वव्यापी मान कर उनकी शरणागति प्राप्त करना और असुरों की तामसी प्रकृति का परित्याग करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।'

महर्षि नारदजी के महोपदेश को सुन कर गर्भस्थ प्रह्लाद पूरे ज्ञानी तथा परम भागवत का पद पानेवाले हुए और महारानी कयाधू ने भी सारी सांसारिक चिन्ताओं की ज्वाला से मुक्त प्रसन्नमना हो महर्षि के चरणों में प्रणाम किया तथा महर्षि नारदजी अपने सन्ध्योपासनके लिये सरोवर की ओर पधारे। सन्ध्योपासन से निवृत्त होकर महर्षि नारद पुनः अपने आश्रम में आये और महारानी कयाधू ने आकर पुनः प्रार्थना की कि 'हे ऋषिराज! आपने जिन सर्वव्यापी ईश्वर की शरणागति का वर्णन किया है, उनके जानने का सरलतर मार्ग कौन-सा है? यह मैं जानना चाहती हूँ।'

महर्षि नारद—'हे दैत्यराज-महिषी! तुमने ठीक ही प्रश्न किया है। धर्म के दो मूल हैं—ज्ञान और शरणागति। पहले ज्ञान प्राप्त होता है तब उसकी शरणागति सुलभ होती है। अवश्य ही ज्ञानमार्ग रूखा और परिश्रमसाध्य है, अतएव साधारण

प्राणी उससे घबड़ाते हैं, किन्तु वह शरणागति की पहली कक्षा के समान ही है। उसे जो नहीं जानते उनकी शरणागति में दृढ़ता नहीं आती। अच्छा सुनो, अब हम तुमसे उस ज्ञानयोग की चर्चा करते हैं, जिसको शास्त्रकारों ने बड़े विस्तार से कहा है। हे बेटी कयाधू! जन्म होना, शरीर का बढ़ना, उसकी स्थिति, उसमें परिवर्तन, उसका धीरे-धीरे क्षय और अन्त में नाश होना—ये छः दशाएँ शरीररूपी दृश्य की होती हैं। शरीर के स्वामी 'आत्मा' की नहीं। जैसे वृक्ष के कच्चे, अधपके और पक्के फल नष्ट होते हैं, वैसे ही इस मनुष्य-शरीर की भी गति होती रहती है, किन्तु 'आत्मा' अविनाशी एवं नित्य है। अनेक श्रुतियाँ इसके प्रमाण-रूप में कही जाती हैं। उनका भाव है कि 'आत्मा' अव्यय है क्योंकि वह किसी भी योनि में जाने पर निर्विकार रहता है। वह शुद्ध है, एक है, क्षेत्रज्ञ है, आश्रय है, अविक्रिय है, व्यापक है, असङ्गी है, अनावृत है, स्वदृक् है, सबका हेतु है और नित्य है। ये बारह उसके विशेषण हैं और इन्हीं विशेषणों से युक्त 'आत्मा' बृहत्त्वादि गुणों के सहित चैतन्य ब्रह्म है। यह हमारा है, और हम अमुक हैं—ये असद्भाव अर्थात् झूठे भाव हैं। इनको देह, घर, सम्पत्ति आदि में जो लगा रखते हैं वे भूलते हैं। ज्ञानियों को इन असद्भावों को त्याग कर आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानना चाहिये। जिस प्रकार चतुर सुनार रासी सोने—मिश्रित सोने को कसौटी पर परीक्षा करके उसमें मिश्रित धातुओं को गला कर जला डालते हैं और असली सोने को उसमें से निकाल

लेते हैं, वैसे ही अध्यात्मज्ञान को जाननेवाले विद्वान् शरीर-मध्यवर्ती जीव होकर आत्मा को ज्ञानयोग द्वारा ब्रह्म के रूप में पहचानते हैं। मूलप्रकृति, महत्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्रा—ये आठ प्रकृति हैं। तीन गुण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों महाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश—इन विकारों को कह कर आचार्यों ने जीव और ब्रह्म में एकता दिखलायी है। देह तो सबका सहकारी है, स्थावर-जङ्गम इन दो भेदों से मनुष्य के देह में ही जीव द्वारा पुरुष, परब्रह्म की परीक्षा करता है। श्रुतियाँ भी जिन परब्रह्म के ज्ञान के सम्बन्ध में ये भी नहीं, ये भी नहीं, नेति, नेति, कह कर चुप हो जाती हैं, ज्ञानयोग के सहारे विद्वान् लोग उस परब्रह्म को जानते हैं। मणि की माला को देखिये। सभी मणियों में सूत प्रविष्ट है—पिरोया हुआ है; इसी को 'अन्वय' कहते हैं और सूत और मणि पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, इस ज्ञान को 'व्यतिरेक' कहते हैं। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति, पालन एवं नाश की वस्तु-स्थिति के जाननेवाले ज्ञानयोगी धीरे-धीरे परब्रह्म को जानते हैं। जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, जो इन तीनों का अनुभव नहीं करता है वही सारे जगत् का साक्षीभूत ईश्वर है। इन तीनों बुद्धि-वृत्तियों से बुद्धि में भेद होता है जो आत्मा से सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे पुष्प के गन्ध को वायु ले जाता है किन्तु वायु में गन्ध नहीं है वैसे ही आत्मा को भी जानना चाहिए। गुण और कर्म इन्हीं दोनों से जीव का बन्धन होता है, ये ही संसार के द्वार हैं, अज्ञान के फल हैं और वस्तुतः

मिथ्या हैं जो मनुष्यों को स्वप्न के समान सत्य मालूम पड़ते हैं। अतएव त्रिगुणात्मक कर्मों के बीज को नाश करनेवाले ज्ञानयोग को तुम धारण करो, जिससे संसार का धारावाहिक सम्बन्ध दूर होकर परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो। वही सबसे श्रेष्ठ उपाय है।

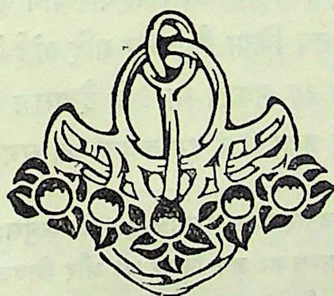
हे बेटी दानवदुहिता ! जिस प्रकार से सम्भव हो सहस्र-सहस्र उपायों से मनुष्य को चाहिये कि सर्वदुःखहारी जगद्विहारी भगवान् को जाने और उनपर प्रीति करे। गुरु की शुश्रूषा द्वारा भगवद्भक्ति को प्राप्त करना ही परम श्रेयस्कर है। गुरु की शुश्रूषा, उनकी भक्ति, सत्संग, भागवत-भक्ति और इन सबके द्वारा ईश्वरा-राधन करने से ही ईश्वर प्रसन्न होते हैं। भगवान् की कथा में श्रद्धा करे, ईश्वर के गुण-कर्मों का कीर्तन करे, उनके चरण-कमलों का ध्यान करे, भगवान् की प्रतिमा की पूजा करे, उन्हीं का स्मरण करे। उनके ही चरण-कमलों में सिर झुकावे। उनको ही संसार-यात्रा का सबसे बड़ा साथी—सखा माने, उन्हीं की दासता को स्वीकार करे और उन्हीं के चरण-कमलों में सम्पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दे। इस प्रकार से जो पुरुष भगवान् की नवधा भक्ति करते हैं वे इस असार संसार के बन्धन से मुक्त होकर परमपद मोक्ष को प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये शरीरधारियों के छः प्रबल शत्रु हैं, जो इन छहों शत्रुओं को जीत कर भगवान् लक्ष्मीनारायण में प्रीति करते हैं वे ही अपने जीवन को सफल बनाते हैं। जो पुरुष भगवान् के अतुल गुण, कर्म, वीर्य आदि को जिनको वे लीलातनु धारण करके—समय-समय पर अवतीर्ण होकर प्रकट

किया करते हैं उनको सुने और जाने, वही मनुष्य सफल-जीवन है। जो पुरुष भगवान् के गुणानुवाद को सुन कर हर्षविह्वल हो अश्रुपात करने लगते हैं, उनके गुणानुवाद को उच्च स्वर से गाते और नाचते हैं, उन्मत्त के समान भगवान् की भक्ति में लीन होकर चारों ओर उन्हीं को पुकारते, हँसते, रोते, ध्यान करते, बारम्बार उसाँसें लेते और उनको सर्वव्यापी समझ कर सभी जीवों को प्रणाम करते तथा प्रतिक्षण हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण! इस प्रकार कहते फिरते हैं एवं जिनकी मिथ्या लोकलाज जाती रहती है वही जीवन्मुक्त जन संसार के बन्धन को तोड़ भगवान् के चरणों को प्राप्त होते हैं। भगवान् के द्वारा ही संसार-बन्धन छूट सकता है। अतएव सबको उन्हीं की भक्ति, उन्हीं का भजन और उन्हीं का ध्यान करना चाहिए। ईश्वर जो अपने अन्तरात्मा में सदा विराजमान हैं उनकी उपासना में कौन-सा परिश्रम है? जो ईश्वर सर्वव्यापी है, उसकी उपासना में कौन-सी कठिनाई है? जो ईश्वर माता, पिता, भ्राता, सखा, सुहृद् आदि सभी भावनाओं से पूजा जा सकता है उसकी उपासना में क्या अड़चन है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अतएव मानवजीवन को पाकर परब्रह्म परमात्मा की ही उपासना करके संसार से मुक्त होना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। हरि-स्मरण ही परम मन्त्र है और हरि-पूजन ही परम श्रेयस्कर कार्य है।

हे बेटी कयाधू! विषयवासनाओं में पड़ कर सांसारिक बन्धनों में फँसना मानवधर्म नहीं है। स्त्री, धन, पुत्र, पशु, घर, भूमि, हाथी, खजाने, विभूति—ये सब-के-सब मानव-आयु के समान

ही क्षणभङ्गुर हैं और ये सभी चलायमान हैं, ये कभी मानव-शरीर से कोई प्रेम नहीं रखते। अतएव इनपर ममता रखना भूल है। सभी सांसारिक ऐश्वर्य जो यज्ञ आदि पुरुषार्थों से प्राप्त हैं वे नाशवान् हैं, पुण्य की न्यूनाधिकता के अनुसार ही इनकी अवधि होती है किन्तु मोक्ष में ये बातें नहीं हैं अतएव एकमात्र भगवान् की भक्ति से प्राप्त मोक्ष ही अक्षय और सबसे श्रेष्ठ है। अतएव सभी मनुष्यों को भगवद्भक्ति में लग जाना चाहिए। जो अपने को विद्वान् मानते हैं और कामना के वशीभूत कर्म करते हैं, वे भूलते हैं। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि, लोग सुखके लिये प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनको दुःख प्राप्त होता है; किन्तु जो मनुष्य निष्काम हो भगवत्कैङ्कर्य करते हैं, उनको अनायास ही सांसारिक सुख एवं परमपद मोक्ष की प्राप्ति होती है। कुटुम्ब, परिवार, राजपाट, सुख-समृद्धि ये सब मानव-शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और शरीर अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, पराया है अतएव इन कुटुम्बादि के सम्बन्ध से जो सकाम उपासना आदि कार्य किये जाते हैं वे भी पराये के अर्थ, नाशवान् और व्यर्थ हैं। परमानन्दरूपी भगवत्प्राप्ति के सम्मुख ये स्त्री-पुत्रादि सुख तुच्छाति-तुच्छ हैं। देहधारी मानवजनों को संसार में कौन-सा स्वार्थ है? देखो न, जन्म से मरणपर्यन्त अपने-अपने कर्मों के अनुसार ये किस प्रकार भाँति-भाँति से पीड़ित रहते हैं। अपने आत्मा के अनुसार यह जीव देह के द्वारा कर्मों को आरम्भ करता है, कर्मों के अनुसार ही देह प्राप्त होता है, किन्तु ये दोनों ही अज्ञानमय हैं। अतएव अर्थ, धर्म एवं काम की इच्छाओं को त्याग कर निष्काम भाव से ईश्वर को भजने

से ज्ञानयोग द्वारा मोक्ष प्राप्त करना सबसे श्रेष्ठ है। समस्त जीवों के आत्मा और प्रियतम एकमात्र श्रीहरि हैं, जिनको योगिजन परब्रह्म परमात्मा के नाम से ध्यान करते हैं। पञ्चमहाभूतों से बने हुए इन शरीरों में अपने किये हुए कर्मानुसार इन जीवों को अन्तर्यामीरूप से उन्हीं को समझना चाहिए। उन्हीं परमात्मा मुकुन्द के चरणारविन्द को भजते हुए न जाने कितने देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्दरूपी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। हे बेटी! जाति, वर्ण, अवस्था, ज्ञान आदि कुछ भी भगवान् के प्रसन्न करने के लिये साधन नहीं हैं। दान, तप, शौच, व्रत आदि पुण्यकर्मों से बहुत अधिक काल में अन्तरात्मा को पवित्रता प्राप्त होती है, किन्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिये और शीघ्रातिशीघ्र प्रसन्नता के लिये एकमात्र निर्मल भक्ति की आवश्यकता है। अतएव कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों को हरिभक्ति करनी चाहिए और सर्वत्र समदर्शी बन कर सबको प्रेम की दृष्टि से देखना चाहिए। ऐसा करने से ही परमलाभ और अक्षय सुख प्राप्त होता है।'



ग्यारहवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपु को वर-प्राप्ति

प्रह्लाद का आविर्भाव

देवताओं में खलबली



रे-धीरे दैत्यराज हिरण्यकशिपु की तपस्या पूरी हुई और उसके समीप में दक्ष, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु आदि अपने मानस पुत्रों के सहित जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी जा पहुँचे* । हिरण्यकशिपु का शरीर हड्डियों की ठठरीमात्र रह गया था और उसके ऊपर भी दीमक लग गये थे । ब्रह्माजी ने कहा, 'हे कश्यपनन्दन ! तुम्हारी तपस्या पूरी हो गयी, अब उठो और मनवाञ्छित वर माँगो । मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । तुम्हारे समान अद्यावधि किसीने कठिन तप नहीं किया । एकाग्र चित्त होकर धैर्यशाली तप करनेवाला आज तक मैंने तुम्हारे समान तुम्हीं को पाया है । भला, जल तक परित्याग करके किसने इतने दिनों का कठिन तप किया है ? और यदि कोई ऐसा करता भी तो वह जीता ही कैसे रह सकता था ? हे दैत्यराज ! उठो, जो चाहो वर माँगो ।' परन्तु ब्रह्माजी के इन वचनों को सुननेवाला था कौन ?

---

* पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय ९३ के अनुसार हिरण्यकशिपु ने शिवजी के पञ्चाक्षर मन्त्र का जप किया था और शिवजी ने ही वर प्रदान किया था, किन्तु अधिकांश पुराणों में ब्रह्माजी के द्वारा वरप्राप्ति की कथा है । सम्भवतः शिवजी के वरदान की कथा कल्पान्तर की कथा है ।

दैत्यराज तो तपस्या में लीन था और उसका शरीर हड्डियों की ठठरी-मात्र रह गया था। उत्तर देता तो कौन देता? कुछ समय तक ठहर कर ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु से जल निकाल और उसे मन्त्रपूत करके ज्यों ही दैत्यराज के ऊपर छिड़का त्यों ही उस अस्थि-मात्र अवशिष्ट दैत्यराज के शरीर में अमोघ बल उत्पन्न हो गया। उसका शरीर पूर्ववत् सुन्दरतायुक्त पचीस वर्ष की युवा अवस्था का और असीम साहस से पूर्ण हो गया।

जब मन्त्रपूत जल के प्रभाव से दैत्यराज हिरण्यकशिपु को चेत हुआ और उसने अपनी आँखें खोलीं तब उसने अपने सामने मानसपुत्र महर्षियों के सहित हंसवाहन जगत्स्रष्टा ब्रह्मा को मुसकुराते हुए देखा। देखते ही उसने साष्टाङ्ग प्रणाम कर रोमाञ्चित करने-वाले भाव से कहा, 'नाथ! आपने असीम कृपा की है कि, मुझ निर्जीव व्यक्ति को जीव, निर्बल को बल और निराधार को आधार देने का अनुग्रह किया है। भगवन्! मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि, मैं आपकी स्तुति कर सकूँ और आपकी इस असीम अहैतुकी कृपा के लिये आपके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता प्रकट कर सकूँ।' इतना कहते-कहते दैत्यराज के नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी और उसका शरीर पुलकित हो उठा।

ब्रह्माजी—'हे पुत्र! अबतक तुमने जो कठिन तप किया है उसका फल आज तुम्हारे सामने उपस्थित है। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा तुम अब 'वर' माँगो। हम तुमको सब कुछ देने के लिये तैयार हैं।'

हिरण्यकशिपु—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और वर देने के लिये तैयार हैं तो आप मुझको 'अमरत्व' प्रदान करें। मैंने देवताओं के अत्याचारों से बचने के लिये ही यह तपस्या की है। मेरा एकमात्र अभीष्ट है 'अमरत्व प्राप्त करना।'

ब्रह्माजी—'हे दैत्यराज ! यह सारा जगत् प्रकृति के अधीन है। मैं और शिवजी भी उसीके आज्ञानुसार काम करते हैं। इस जगत् में अमर कोई नहीं है। यहाँ तक कि मैं भी अपने एक सौ वर्ष की आयु तक ही रह सकता हूँ। अतएव तुम्हारे माँगे हुए 'वर' को देने में मैं असमर्थ हूँ। मैं स्वयं ही जब अमर नहीं हूँ, तब तुमको अमर बनाने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ ? हाँ, 'अमरत्व' के अतिरिक्त अन्य जो कुछ तुम माँगना चाहो, माँग लो। मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और जो कुछ मेरी शक्ति में है, उसको देने के लिये तैयार हूँ।'

हिरण्यकशिपु—'हे जगत् के सिरजनहारे नाथ ! आपने ठीक ही कहा है, किन्तु मैं अब भी अधीर नहीं। आप 'अमरत्व' नहीं दे सकते तो न दें, मैं दूसरा वर माँगता हूँ। आप मुझे यह वर दें कि 'आपने जो कुछ बनाया या सिरजा है, चाहे वह देव, दानव, दैत्य आदि देवयोनि के प्राणी हों और चाहे मानवादि योनि के प्राणी अथवा कोई भी आपका सिरजा हुआ प्राणी हो, उसके द्वारा मेरी मृत्यु न हो। मेरी मृत्यु न घर के भीतर हो न घर के बाहर। न रात में हो न दिन में। मेरी मृत्यु न पृथिवी में हो और न आकाश में। न मुझे प्राणी मार सकें न अप्राणी। इतना ही

नहीं, मैं इसी शरीर से आपके समान ही समस्त लोकपालों का अधिपति बन कर रहूँ।'

दैत्यराज के अद्भुत वर को स्वीकार कर ब्रह्माजी ने तथास्तु कह अपने लोक के लिये प्रस्थान किया और महर्षिगण भी अपने-अपने आश्रम को पधारे। हिरण्यकशिपु भी मन-ही-मन बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने सोचा कि 'मैंने ब्रह्माजी को भी भुला दिया और प्रकारान्तर से अमरत्व ही का 'वर' प्राप्त कर लिया है। अब देखता हूँ मेरे शत्रु देवतागण और उनका पक्षपाती विष्णु जो मेरे भाई का घातक है, किस कन्दरा में छिप कर अपनी-अपनी जान बचाते हैं और मेरे विरुद्ध कैसा षड्यन्त्र रचते और किसकी दुहाई देते हैं? इधर दैत्यराज ने वर प्राप्त कर अपने घर के लिये प्रस्थान किया और उधर देवताओं में वरदान का समाचार सुन ऐसी खलबली मच गयी कि जिसकी कोई सीमा नहीं। देवताओं ने दैत्यराज के परिवार के साथ उसकी अनुपस्थिति में जो सुलूक किया था उसका बदला लेने को दैत्यराज आ गया। अतएव देवतागण—विशेष कर देवराज इन्द्र, '*कृतापराधः स्वयमेव शङ्कते*' के अनुसार अधीर हो उठे। देवराज ने जिन दैत्य सेनापतियों को बन्दी बना रक्खा था, जिन दैत्यराजकुमारों को अपने जेलखानों में ठूँस रक्खा था, उनसे क्षमा माँग-माँग कर उन सबको छोड़ दिया और समस्त देवता तथा दिक्पालगण अपनी-अपनी रक्षा के लिये उपाय ढूँढ़ने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपूर्व वर प्राप्त करके अपनी

राजधानी 'हिरण्यपुर' में जो आज मुल्तान नाम से प्रसिद्ध पञ्जाब-प्रान्त का एक नगर है, जा पहुँचा। राजधानी को देवराज इन्द्र ने पहले ही से तहस-नहस कर डाला था, किन्तु उसका भग्नावशिष्ट खँड़हर मौजूद था। दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने देवराज की सारी काली करतूतें सुनीं और यद्यपि उसको इतना क्रोध आया कि उसकी आँखें लाल हो गयीं और वह दाँत कटकटाने लगा, तथापि उसने उस समय युद्ध न छेड़ धैर्य धारण कर अपनी राजधानी को पुनः सजाने और अपने समस्त सैनिक सामन्तों को सँभालने का कार्य आरम्भ किया। थोड़े ही समय में बड़े-बड़े शिल्पियों द्वारा 'हिरण्यपुर' पुनः 'हिरण्यपुर' हो गया। उसकी शोभा देख कर देवराज इन्द्र की अमरावती को भी लज्जा जान पड़ने लगी। इसी बीच में दैत्यराज के राजकुमार जो देवराज इन्द्र के यहाँ बन्दी थे तथा सारे-के-सारे सेनापति भी आ गये और दैत्यराज के आगमन का समाचार सुनकर महर्षि नारदजी ने गर्भवती महारानी कयाधू को भी लाकर उसके प्राणपति दैत्यराज को सौंप दिया। प्राणप्रिय पुत्रों तथा प्राणप्रिया भार्या के मुख से भी दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने देवराज इन्द्र के क्रूरतापूर्ण अमानुषिक अत्याचारों को सुना। अपनी अनुपस्थिति में अपने अन्तःपुर के ऊपर देवराज के आक्रमण का वृत्तान्त सुन कर दैत्यराज के मुख से सहसा निकल पड़ा कि ये काम कायरों, चोरों और डाकुओं के हैं, वीरों के नहीं। हम इन अत्याचारों का उत्तर लम्पट इन्द्र के कार्यों के रूपमें नहीं, वीरता के साथ देंगे। आप लोग धैर्य धारण करें!

एक तो पहले से ही देवताओं के प्रति शत्रुता के भाव दैत्यराज के हृदय में थे, दूसरे उनकी अनुपस्थिति में उनकी राजधानी एवं उनके अन्तःपुर में देवताओं ने जो अत्याचार किये थे वे घी की आहुति के समान अग्नि को—क्रोधाग्नि को प्रज्वलित करनेवाले हुए। दैत्यराज ने वर प्राप्त कर लौटने पर जब राजधानी एवं राजप्रासाद की रचना पूर्ववत् करा दी और पुनः स्वस्थ होकर शासन करने लगे, तब उन्होंने अपने राज्य में ढिंढोरा पिटवा दिया कि—'यदि कोई भी स्त्री, पुरुष अथवा बालक किसी भी देवता की पूजा करेगा, अथवा देवताओं का पक्ष लेनेवाले विष्णु की पूजा-अर्चा करेगा तो उसको कठिन-से-कठिन दण्ड दिया जायगा। इतना ही नहीं, यदि कोई विष्णु का नाम उच्चारण करेगा तो उसको भी कारागार में बन्द कर कठोर दण्ड दिया जायगा।' इस प्रकार का ढिंढोरा पिटते ही, सारे साम्राज्य में हलचल मच गयी और बेचारे विष्णु-भक्तों को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा, उसका तो अनुमान करना भी इस स्वतन्त्र विचार के जमाने में असम्भव है। न जाने कितने भगवद्भक्त कारागारवासी हुए और न जाने कितनों को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ीं तथा कितने ही तलवार के घाट उतारे गये। राज्यभर में अवैष्णवता का अन्धकारमय जड़वाद फैल गया और कहीं ढूँढ़ने पर भी देखने को विष्णुभगवान् का मन्दिर और वैष्णव न मिलने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु को ब्रह्मा का वरदान मानों अमोघ ब्रह्मास्त्र मिल गया और वह अपना वैरभाव देवताओं से चुकाने

लगा। कितने ही देवताओं को उसने अपने कारागारों में बन्द कर उनके सारे-के-सारे अधिकार छीन लिये और शक्तिशाली लोकपालों को अपने अधिकार में रख दासता की बेड़ी में जकड़ दिया। न जाने कितने ही देवता दैत्यराज के भय से भयभीत हो अपने लोक ही से चल दिये और मर्त्यलोक में मनुष्यों के वेश में रहने तथा येन केन प्रकारेण अपना-अपना जीवन-यापन करने लगे। उसके साम्राज्य में देव-ब्राह्मणों की पूजा, भाँति-भाँति के यज्ञ और अनुष्ठानों का अन्त हो गया तथा तामसी विद्याओं का खासा प्रचार होने लगा। वैदिक ब्राह्मणों तक में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की ही शिक्षाएँ अधिकता से प्रचलित हो गयीं और सात्त्विकी विद्याओं का लोप-सा हो गया। दैत्यराज तथा उसके सभी अधिकारी सारे संसार की ऋद्धि, सिद्धि और अक्षुण्ण अधिकारों को पाकर मदान्ध हो गये और सारी चिन्ताएँ छोड़ उन सबके अन्तःकरण में एकमात्र विष्णु का वैर-ही-वैर रह गया। दैत्यराज को रात-दिन यही चिन्ता रहती कि किस प्रकार से कहाँ विष्णु मिलें कि उनसे भाई का बदला चुकाऊँ और उनको मार कर देवताओं का आश्रय मिटा दूँ।

उधर दैत्यराज के तामसी शासन से सारा संसार कम्पायमान हो रहा था और तामसी असुरों की पाँचों अँगुलियाँ घी में थीं और इधर महारानी कयाधू प्रसवकाल समीप आने से बड़े ही विस्मय में थीं। जिस समय से प्रह्लाद माता के गर्भ में आये थे उसी समय से यद्यपि उनको तरह-तरह के विलक्षण स्वप्न होते थे, तथापि जैसे-जैसे प्रसवकाल समीप आने लगा वैसे-ही-वैसे स्वप्न भी अधिकाधिक

होने लगे। महारानी कयाधू स्वप्न में कभी भाँति-भाँति के देव-देवियों के आगमन देखती थीं, कभी भक्ति में मग्न होकर उनको नाचते-गाते देखतीं और सुनती थीं, और कभी विष्णुभगवान् का पूजन और उनका महोत्सव मनाते हुए देववृन्द को देखती थीं। कभी-कभी तो जग जानेपर भी वह कुछ ही दूरी पर हरि-नाम-कीर्तन की मधुर ध्वनि और विष्णुभगवान् के जयजयकार का शब्द सुनती थीं। इतना ही नहीं, कभी-कभी वह प्रत्यक्ष में भी वायुरूप देवों को भगवद्भक्त का जयजयकार करते हुए भी देखती थीं और यह सब कुछ देख-सुन कर वह बड़े विस्मय में समय बिताती थीं।

महारानी कयाधू विस्मय में इस कारण पड़ी थीं कि, इन दैवी घटनाओं को देख और सुन कर उनको महर्षि नारद के वचन स्मरण आते और वह विश्वास करती थीं कि हमारे गर्भ से संसार में कीर्ति फैलानेवाला एक महापुरुष उत्पन्न होगा, किन्तु उसके साथ उनको यह भय भी सताता था कि यदि प्राणपति दैत्यराज को यह समाचार मिल गया तो सम्भवतः वे गर्भ ही को नष्ट करा डालेंगे। इसी कारण से वे अपने स्वप्न की देखी और सुनी बातों को किसी के आगे प्रकट करना नहीं चाहती थीं, और बिना प्रकट किये हुए उनका हृदय एक अपूर्व अवस्था को प्राप्त हो गया था। अन्त में कोमल रमणी का हृदय इन बातों को छिपा न सका और एक दिन जब पुरोहितजी उनके अन्तःपुर में आये, तब उनसे एकान्त में रानी ने अपने स्वप्न की सारी बातें कह सुनायीं। पुरोहितजी यद्यपि राजा की आज्ञा के भय से प्रत्यक्षतः विष्णुभक्त न थे, तथापि

वस्तुतः वे थे परम वैष्णव और द्विज-देवताओं के शुभचिन्तक। पुरोहितजी ने महारानी कयाधू की सारी बातें सुन कर कहा कि—'हे दैत्यराजमहिषी! हमने आपके सभी लक्षणों को देखा और स्वप्न की सारी बातें सुनीं। आप चिन्ता दूर करें। आपके गर्भ से जो बालक होगा उसके द्वारा आपके दोनों ही कुल—पितृकुल तथा श्वसुरकुल संसार में प्रसिद्ध होंगे। वह बड़ा यशस्वी होगा एवं धन्य-धन्य होगा। वह बालक संसारभर का हितकारी और महापुरुष होगा। बस, इतना ही इस समय हम आपसे कहते हैं। किन्तु इसीके साथ इस बात का अनुरोध भी करते हैं कि यदि अपना तथा अपने दोनों कुलों का कल्याण आपको इष्ट है तो इस बात की चर्चा अब किसी के भी आगे न करना।' महारानी कयाधू ने पुरोहित की हितभरी बातों को सुन कर स्वप्नचर्चा को गुप्त रखने की प्रतिज्ञा की और प्रतिज्ञा को अन्त तक निबाहा भी। उस दिन के पश्चात् किसी को कानोंकान स्वप्न का समाचार नहीं मिला।

इस घटना के पश्चात् थोड़े ही दिनों पीछे परमपुनीत समय में परमभागवत प्रातःस्मरणीय भक्तशिरोमणि प्रह्लाद का पवित्र एवं कल्याणप्रद आविर्भाव हुआ। बालक के भूमिष्ठ होते ही चारों ओर मङ्गलमय वाद्यध्वनि होने लगी, नगाड़े बजने लगे और सारे राजमहल में ही नहीं, सारे नगर में मङ्गलाचार होने लगे। नवजात-शिशु के अपूर्व रूप-लावण्य, सुन्दर शारीरिक गठन एवं सारे मन्दिर को प्रभान्वित कर देनेवाली उसकी प्रभा को देख कर, माता अपनी प्रसववेदना को भूल कर आनन्दमग्न हो गयी। माता सोचने लगी

कि—'यह बालक साधारण राजकुमार नहीं है, यह अद्भुत रूपधारी परमपावन ईश्वर-दूत अथवा कोई ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न देवता का अवतार है और ईश्वर के किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने के लिये इसका आविर्भाव हुआ है।' एक तो माता का पुत्र-वात्सल्य-रस यों ही प्रेम के रूप में सहस्रधार होकर प्रवाहित होता रहता है, दूसरे अपने पुत्र के अलौकिक तेजस्वी स्वरूप एवं चैतन्य शक्ति को देख तथा महर्षि नारद एवं पुरोहित के वचनों को स्मरण कर महारानी कयाधू पुत्र-स्नेह में निमग्न हो गयीं और बारम्बार नवजात शिशु को चूमने लगीं। इतना ही नहीं, दैत्यराज हिरण्यकशिपु तो जो कुछ कर रहे थे करते ही थे, महारानी ने अपने अन्तःपुर के लिये यह आदेश दे दिया कि उस समय तक मुक्तहस्त से दान-पुण्य बराबर होता रहे जब तक कि अशौच नहीं लगता।

बात-की-बात में सारी राजधानी में, हिरण्यपुर के मुहल्ले-मुहल्ले और घर-घर में राजकुमार के जन्म के आनन्द में महोत्सव मनाने का समारोह होने लगा। चारों ओर नवीन नगर में नवीन उत्साह के साथ मङ्गलमय उपकरणों से सुसज्जित नवयुवतियों के झुण्ड-के-झुण्ड बधावा लेकर राजप्रासाद की ओर जाते दिखलायी देने लगे। गुण-गरिमा-गर्वित गवैये अपनी राग-रागिनियाँ अलापते हुए माङ्गलिक गाने गाने लगे। राजधानी में चारों ओर ऐसी चहल-पहल मच गयी कि कोई किसी की बात भी नहीं सुनता था। 'दीयताम्, दीयताम्' के शब्द की प्रतिध्वनि के समान ही 'गृह्यताम्, गृह्यताम्' की प्रतिध्वनि से आकाश प्रतिध्वनित होने

लगा। महाराज शुक्राचार्य के सुपुत्र की सम्मति से बालक के सविधि जात-संस्कार किये गये।

बालक अपूर्व था, उसकी प्रभा विलक्षण थी और वह धीरे-धीरे नहीं, बड़ी शीघ्रता के साथ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य ही कुछ-न-कुछ उन्नति करने लगा। समयानुसार उसके निष्क्रमण एवं नामकरण आदि संस्कार भी सविधि कराये गये और आचार्य ने उसका नाम 'प्रह्लाद' रक्खा। यद्यपि यह राजकुमार प्रथम राजकुमार नहीं था फिर भी इसकी सुन्दरता, इसके भविष्य-चरित्र का प्रभाव तथा इसके तेजपुञ्ज मुख-कमल को देख कर, माता का तो कहना ही क्या था दैत्यराज हिरण्यकशिपु भी अपने आप को आनन्द के अगाध सागर में निमग्न देखने लगा। इस नवजात शिशु के सामने मानों पूर्वोत्पन्न पुत्रों का स्नेह-स्मरण ही जाता रहा।

इधर असुर-समुदाय में चारों ओर आनन्द-बधाई बजती थीं और सब लोग राजकुमार के जन्मोत्सव का आनन्द मना रहे थे, उधर देवताओं में परमभागवत प्रह्लाद के आविर्भाव का समाचार पहुँचते ही, अपनी सारी विपत्तियों को भुला कर, दासता की बेड़ियाँ बजा-बजा कर आनन्द मनाया जाने लगा। भविष्य की आशा पर, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी के आश्वासन के भरोसे पर प्रह्लाद के जन्मकाल में असुरों की अपेक्षा देवताओं में, कम नहीं, प्रत्युत अधिक आनन्द मनाया जाने लगा, किन्तु असुरों का आनन्द प्रकटरूप में था और देवताओं का आनन्द हृदयगत और गुप्त था। सारांश यह कि, प्रह्लाद के आविर्भाव से सारा संसार आनन्दित हो गया। देव, दनुज, मनुज आदि सभी जातियों के घर आनन्द का समुद्र उमड़ने लगा।

बारहवाँ अध्याय

प्रह्लाद का बालचरित्र

भक्ति का भाव



ह्लाद के शारीरिक सौन्दर्य, अपूर्व तेज और विचित्र बालचरित्र की महिमा धीरे-धीरे सारे नगर ही में नहीं, प्रत्युत सारे साम्राज्य में कही और सुनी जाने लगी। उनकी शैशवकालीन मधुर हँसी, उनका मचलना और उनकी तोतली बोली के अस्फुट शब्दों एवं भावों को देखने और सुनने के लिये केवल दास-दासी, पुरजन-परिजन, सगे-सम्बन्धी ही नहीं, प्रत्युत अगणित प्रजाजन भी लालायित रहते और अपने आनन्द का सर्वोत्तम साधन समझते थे। दैत्य, दानव, असुर-वृन्द तथा उनकी प्रजाओं के न जाने कितने लोग यहाँ तक कि देवतागण भी वेष बदल कर उन परमभागवत के अपूर्व दर्शन के लिये जाते और दर्शन पाकर अपने आपको कृतकृत्य समझते थे।

बालक प्रह्लाद में आदर्श बालकों के सारे उत्तम गुण थे। मुख पर अव्यक्त हँसी, शान्ति, सुन्दरता और विकसित पद्मपुष्प के समान प्रभा छायी रहती थी। रोना, क्रोध करना, जड़तापूर्ण चञ्चलता आदि बालकों के दुर्गुण तो छू तक नहीं गये थे। इन्हीं गुणों के कारण बालक प्रह्लाद ने अपनी अबोध बाल-अवस्था ही में आस्तिक-नास्तिक सारी प्रजा के, अपने असुर एवं सुरकुल के लोगों के हृदयों

पर इतना प्रभाव जमा लिया था कि न जाने कितने लोग दिन-रात में दो एक बार बिना उन बालक प्रह्लाद के मुखारविन्द को देखे, अधीर-से हो जाते थे। इसी प्रकार उनका अबोध बालकाल बड़ी ही विलक्षण रीति से व्यतीत हुआ।

लोग समझते थे कि बालक होनहार है, सीधा है, शान्त है और गम्भीर है। बालक राजकुमार है अतएव उसमें इन गुणों का होना अचरज की बात नहीं, किन्तु वास्तव में वहाँ कुछ और ही बात थी और उसके जाननेवाले विरले ही थे। बालक प्रह्लाद अबोध अवस्था में भी वस्तुतः अबोध न थे। उनको महर्षि नारद के उपदेश ने, उस अवस्था में भी हरि-भक्ति में लीन और संसार-बन्धन से विहीन कर दिया था। उनका मन शान्त था और ज्ञानी के समान वे सदा गम्भीर रहते थे। इसी कारण उनमें अपने-पराये का भाव नहीं था। वे सारे संसार को अपना और अपने स्वामी सर्वव्यापी भगवान् विष्णु का स्वरूप समझते थे तथा सबके प्रति समान प्रेम-भाव रखते थे। एक दिन भी किसी ने किसी मानुषी अथवा आसुरी प्रकृति के अधीन उनको नहीं देखा। जड़-चेतन, सभी चराचर, उनके प्रेम की वस्तुएँ थीं। समस्त फूल-पत्तों, पशुओं एवं पक्षियों की हँसी के साथ वे हँसते और उनके गाने के साथ गाते थे और अपनी नन्हीं-नन्हीं-सी तालियाँ बजाते थे। साधारण बालकों के समान उनकी चेष्टा कभी देखी नहीं जाती थी। वे न कभी किसी चीज को अपने हाथों पकड़ने की चेष्टा करते थे और न कभी चिन्ता एवं कष्ट का अनुभव करते थे। वे सदा प्रसन्न रहते थे। हाँ, उनको एक

चिन्ता—नहीं नहीं, एक अभिलाषा अवश्य थी, वह थी अपने नाथ को जानने, उनको पहचानने और उनको पाने की।

जिस समय उनके संगी-साथी बालक, चारों ओर खेल-कूद मचाते और दौड़-धूप करते थे उस समय भी वे शान्त-चित्त से एकान्त में बैठ कर न जाने क्या सोचते और मन-ही-मन क्या मुसकुराया करते थे। जिस समय प्रह्लाद के साथी बालक जोर-जोर से शोर मचाते, नाचते, कूदते और आपस में मारपिटौवल कर रोते-चिल्लाते थे, उस समय भी बालक प्रह्लाद की शान्ति भङ्ग नहीं होती थी और वे अपने मानसिक गूढ़ आनन्द में मग्न रहते थे। वे कभी स्वयं शोर-गुल मचाने में सम्मिलित नहीं होते थे और ऐसे चुप बैठे रहते थे, मानों उनको न तो वह शोरगुल ही सुनायी पड़ता है और न बालकों के खेल-तमाशे ही दीख पड़ते हैं। अवश्य ही उनके हृदय में महर्षि नारद के उपदेशों के द्वारा भगवद्भक्ति की तरंगे हिलोरें मार रही थीं और वे सारे संसार को ही उस परमात्मा का रचा हुआ एक विचित्र खेल समझते तथा स्वयं उसी खेल में लीन रहते थे, इसलिये उनको अपने साथी बालकों के नकली खेल-तमाशे और शोर-गुल दिखायी और सुनायी नहीं पड़ते थे। उनकी ओर उनका खयाल ही नहीं था।

कभी-कभी प्रह्लाद के भाई-बन्धु और सगे-सम्बन्धियों के लड़के जो उनके साथ खेलने-कूदने के लिये रहते थे, बलात् उनको अपने साथ खेलने के लिये पकड़ ले जाते थे। उस समय वे उन बालकों से अपने को छुड़ाने की चेष्टा न कर ऐसी

मधुरी हँसी हँसते थे कि उनको पकड़ ले जानेवाले वे सभी बालक मोहित होकर हँस पड़ते और प्रह्लाद को छोड़ अपने अन्यान्य साथियों के साथ खेलने-कूदने लगते थे। बालक प्रह्लाद की इन सब अद्भुत लीलाओं को देख-देख और सुन-सुन कर उनके ऊपर प्रतिक्षण दृष्टि रखनेवाली उनकी जननी महारानी कयाधू को बारम्बार महर्षि नारदजी के तथा पुरोहित के वचन स्मरण हो आते थे, इससे वे जिस अपूर्व आनन्द का अनुभव करती थीं, उसको पुत्रवात्सल्य-रस की जाननेवाली माताएँ ही अनुभव कर सकती हैं, दूसरे तो उसका अनुमान भी नहीं कर सकते।

एक दिन प्रातःकाल का समय था, भगवान् भास्कर की स्वर्णमयी किरणें चारों ओर फैल रही थीं, कमलिनी अपने मुखारविन्द को सम्पुटित करने लगी थीं और कमलदल विकसित होने लगे थे। चारों ओर प्राकृतिक तथा राजनिर्मित सांसारिक सुषमाएँ दिखलायी दे रही थीं। उस समय बालक प्रह्लाद अपने पितृनिर्मित नन्दन-वन से भी अधिक शोभायमान राजकीय उद्यान में जा पहुँचे। राजोद्यान में सुखद शीतल, मन्द एवं सुगन्धयुक्त समीर बह रहा था। तरह-तरह के मनोहर कलरव करते हुए पक्षिगण उड़ रहे थे और न जाने कितने प्रकार के आकारवाले मुखमन्दिरों से निकल-निकल कर निर्झरिणियों की तरल तरङ्गें अपनी छटा दिखला रही थीं। छोटे-छोटे सरोवरों में रङ्ग-विरङ्गे कमलपुष्पों पर तथा प्रातःकालीन पुष्पित नवीन पुष्पराजों पर चारों ओर भ्रमरवृन्द गूँजते हुए मँडरा रहे थे, मानों वे सारे-के-सारे मधुकर शनैः-शनैः परमभागवत प्रह्लाद

के गुणगान करते हुए अपने जीवन को सफल बना रहे थे। उसी आनन्दमय समय में, उसी आनन्दवन के स्थान में बालक प्रह्लाद, प्रसन्नमन चारों ओर देख रहे थे तथा मन्द-मन्द हँस रहे थे। मानों राजोद्यान की सारी प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक शोभाओं में पुष्पों और पुष्पपरागों, सरोवरों और निर्झरिणियों में तथा पक्षि-वृन्द एवं मधुकरवृन्द में वे अपने आराध्यदेव, अपने सर्वस्व, अपने हृदयधन भगवान् माधव की महिमा और उनकी अपूर्व लीला को देख-देख कर आनन्द की हँसी हँसते हुए उनकी मानसिक आराधना कर रहे थे। उसी समय बालक प्रह्लाद को खोजती हुई उनकी माता कयाधू भी वहाँ जा पहुँचीं और अपने बालक पुत्र की उस अद्भुत हँसी को देख कर, मन्द स्वर से और स्नेहभरे शब्दों में कहने लगीं—

'बेटा प्रह्लाद! यह क्या हो रहा है? यहाँ अकेले किससे हँस रहे हो?'

प्रह्लाद—'माँ! मैं अपने प्राणधन और सारे संसार के सिरजनहार हरि की महिमा देख रहा हूँ एवं उन्हीं से हँस रहा हूँ। उनकी लीलाओं की मानसी पूजा कर अपने अबोध-जीवन के उद्धार के लिये उनकी सारी लीलाओं को और उनके प्रत्येक नाम को स्मरण कर रहा हूँ।'

माता—'मेरे जीवनाधार पुत्र प्रह्लाद! तुम जो कुछ कह रहे हो और कर रहे हो, यदि ठीक भी हो तो भी, तुम्हारे लिये यह उचित नहीं। बेटा! तुम अभी बालक हो, तुमको अभी अर्चा-पूजा की क्या आवश्यकता है। तुमको तो खेलना-कूदना और आनन्द में

समय बिताना चाहिये, जिससे तुम्हारे पिताजी भी आनन्दित हों और मैं भी आनन्द का अनुभव करूँ।'

प्रह्लाद–'माताजी! तुम कैसी बातें कह रही हो। क्या हरि की भक्ति में भी कोई अवस्था की अपेक्षा है? यह तो बालपन ही से होनी चाहिए। माताजी, तुम तो अनजान-सी बन रही हो, भला, इससे बढ़कर अच्छा खेल संसार में और कौन-सा है और इससे अधिक सुख और किस काम में मिल सकता है? परम पिता परमात्मा की भक्ति में जो परमानन्द है वह किसी भी सांसारिक काम में नहीं है। यदि मेरे पिताजी मेरे आनन्द से सचमुच आनन्दित होते हैं, तो मेरी इस हरिभक्ति से, और मेरे इस परमानन्द से उनको निश्चय ही अपार आनन्द प्राप्त होगा।'

माता–'बेटा प्रह्लाद! तुम नहीं जानते। तुम्हारे पिताजी यदि यह जानेंगे कि तुम हरि की भक्ति करते हो, तो वे तुम्हारे ऊपर अप्रसन्न होंगे। क्योंकि वे हरि से शत्रुता रखते हैं। वे कहते हैं कि, 'भगवान् हरि ने ही देवताओं का पक्ष लेकर और वाराहरूप धर पाताल में हमारे भाई को मार डाला है।' इसलिये हे बेटा! मैं तुमसे विनती करती हूँ, तुम अपने पूज्यपाद पिताजी को प्रसन्न रखने के लिये केवल हरि की उपासना ही नहीं, बल्कि उनका नाम लेना भी छोड़ दो।'

प्रह्लाद–'माँ! आज तो तुमने मुझे यह बड़े अचरज की बात सुनायी। क्या सचमुच पिताजी परमपिता परमेश्वर के साथ शत्रुता रखते हैं? भगवान् विष्णु कभी पक्षपाती नहीं हो सकते।

भला ! जो देव, दानव, दैत्य, राक्षस आदि सभी के उत्पादक और सभी के परमपिता हैं, वे देवताओं का पक्ष लेकर हमारे चचा-को अकारण मारें, क्या ऐसा होना कभी सम्भव है ? माताजी ! तुम्हीं बतलाओ कि, तुम कभी हम और हमारे भाइयों के बीच पक्षपात कर किसी एक को जान से मार सकती हो ? यदि नहीं तो तुम उन परमपिता भगवान् हरि पर विश्वास रक्खो। वे कभी भी न तो किसी का पक्षपात करते हैं और न किसी के साथ अन्याय। सम्भव है तुमको मालूम न हो। और यह भी सम्भव है कि पिताजी को भी मालूम न हो। उनके अनजान में चाचाजी ने अवश्य ही कोई ऐसा काम किया होगा जिसके लिये उस परम पिता परमात्मा को कृपापूर्वक अपने हाथों उनको मारना पड़ा होगा। इसलिये तुम पिताजी को समझा दो। वे भगवान् से शत्रुता न करें और उनकी भक्ति के परम आनन्द का अनुभव करें।'

माता—'बेटा प्रह्लाद ! तुम न जाने क्या कहते हो ? पुत्र का परमधर्म पिता की आज्ञा मानना है। जब तुम्हारे पिताजी विष्णु का नाम लेना पाप समझते हैं, उनकी पूजा करना राजद्रोह समझते हैं और अपने सारे साम्राज्य में इसके लिये ढिंढोरा पिटवा चुके हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन सभी सुरासुर कर रहे हैं, तब तुम उनके पुत्र होकर उनकी आज्ञा का पालन क्यों नहीं करते ? जब तक पुत्र अबोध या अज्ञान रहे, तब तक उसे पिता ही को सब कुछ और उनकी आज्ञा ही को ब्रह्मवाक्य मान कर उसीके अनुसार चलना चाहिए। क्योंकि संसार में पिता से बढ़-

कर पुत्र का कल्याण चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं होता । इसलिये बेटा ! बहुत क्या कहूँ, तुम्हारे पिताजी जो कहें, तुमको वही करना चाहिए और जब तुमको मालूम हो चुका है कि, वे विष्णु को अपना शत्रु मानते हैं, तब तुमको स्वयं ही विष्णु का नाम न लेना चाहिए ।'

माता की बातों को सुन कर बालक प्रह्लाद, खिलखिला कर हँस पड़े और पेटभर हँस लेने के पश्चात् बोले—'माताजी ! तुम नाहक डरती हो । जब पिताजी मुझे कहेंगे तब मैं उनको समझा लूँगा, किन्तु यह प्यारा हरिनाम तो मुझसे कभी छूटने का नहीं । इसकी मधुरता की समता तुम्हारे अति स्वादिष्ट पकवान भी नहीं कर सकते । अरी माँ ! एक बार तुम भी तो इस मीठे रस का स्वाद लो । कहो तो प्रेम से 'हरे मुरारे मधुकैटभारे* ।' कयाधू ने समझ लिया कि इस समय इसको समझाना व्यर्थ है । यह बाल-हठ है । ज्यों-ज्यों इस रोग के छुड़ाने की चेष्टा की जायगी, त्यों-त्यों यह बढ़ता ही जायगा । अतएव इस समय इसकी चर्चा ही न की जाय तो ठीक है । माता ने कहा 'बेटा ! अब बहुत खेल-कूद चुके, कलेवा करने का समय हो गया, चलो तुम्हारे भाई लोग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।' माता के आज्ञानुसार, भगवद्भक्ति के आनन्द में मग्न नाचते-कूदते और हँसते हुए बालक प्रह्लाद उनके पीछे-पीछे हो लिये ।

---

*हरे मुरारे मधुकैटभारे मधुकैटभारे
गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे ।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष ॥

तेरहवाँ अ

तेरहवाँ अध्याय

बालक प्रह्लाद को माता की शिक्षा

भक्ति की प्रबलता



बसे राजोद्यान में माता के साथ बालक प्रह्लाद की भक्ति-विषयिणी बातें हुईं, तबसे प्रह्लाद की भक्तिरस की धारा और भी अधिक वेग से प्रवाहित होने लगी, इससे माता कयाधू की चिन्ता दिनोंदिन बढ़ने लगी। बालक प्रह्लाद संसार में जो कुछ देखते अथवा सुनते थे सभी में अपने हृदयेश्वर भगवान् हरि ही की भावना करने लगते थे और इसी आवेश में वे कभी उछल पड़ते, कभी नाच उठते और कभी-कभी गाने अथवा रोने लगते थे। दिनोंदिन उनकी दशा लोगों को पागलों-जैसी प्रतीत होने लगी और उनकी इस दशा की चर्चा चारों ओर होने लगी। लोग देखते कि, राजकुमार कभी तो निर्जन स्थान में घण्टों बैठे न जाने क्या सोचते हैं और कभी रास्ते चलते भी कूदते-नाचते और खिलखिला कर हँसने लगते हैं। यह समाचार धीरे-धीरे पिता को—हिरण्यकशिपु को मिला और पुत्र की—प्राणप्रिय पुत्र की यह दशा सुन और देख कर उसको भी बड़ी चिन्ता हुई। उसको बालक प्रह्लाद की भगवद्भक्ति का अभी तक पता नहीं लग पाया था, किन्तु उसकी उदासीन वृत्ति ही से उसे चिन्ता होने लगी। वह मन-ही-मन कहने लगा—

'यह राजवंश का कुमार होकर भी साहसी नहीं। इसके अन्तः-करण में उद्योग का लेश भी नहीं है! इस बालक को अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिये अभी से व्यायाम करना चाहिये। मृगया (शिकार) को जाना चाहिए और इसमें राजोचित आत्माभिमान होना चाहिए; किन्तु मालूम नहीं क्यों इसमें राजकुमारों-जैसे राजनीति के एक भी लक्षण नहीं देख पड़ते।' अन्ततोगत्वा दैत्यराज ने अपनी स्त्री महारानी कयाधू से कहा कि—'प्रिये! इस बालक को धीरे-धीरे तुम सँभालो। बालकाल में बालक पुत्र को शिक्षा देने का भार माता पर ही होता है। जब तक बालक गुरुकुल का अधिकारी नहीं हो जाता तब तक उसका श्रेष्ठ आचार्य उसकी माता होती है। प्रियतमे! क्या कारण है कि यह बालक इस प्रकार के स्वभाव का हो रहा है। बालकों में माता-पिता के गुण होने चाहिए; किन्तु इसमें तो न तुम्हारे-से साहसी गुण हैं और न मुझ-से निर्भय एवं उग्र विचार ही हैं। अतः अब इस ओर तुम भली-भाँति ध्यान दो और समुचित शिक्षा देकर इसको अपनी कुलमर्यादा के अनुरूप बनाओ।' स्वामी की आज्ञा को तो पतिव्रता कयाधू ने शिरोधार्य किया, परन्तु पुत्र की भगवद्भक्ति की चर्चा पति के सामने बिल्कुल नहीं की और मन-ही-मन चिन्ता में डूबती हुई बालक प्रह्लाद की शिक्षा का उपाय सोचने लगी।

बालक प्रह्लाद की भगवद्भक्ति में दृढ़ता, महारानी कयाधू पहले ही से देख चुकी थीं, अतएव उनको इस बात का विश्वास तो नहीं था कि, पुत्र को शिक्षा दे उसको भगवद्भक्ति की ओर से

विमुख कर दैत्यकुलानुरूप राजकुमार की तामसी शिक्षा देने में वे सफल होंगी, किन्तु स्वामी की आज्ञा और पुरुषार्थ को अजेय शक्ति समझ कर उन्होंने प्रह्लाद को शिक्षा देने का विचार किया। महारानी ने सोचा कि यदि प्रह्लाद को मैं भगवद्भक्ति से सर्वथा विमुख होने की स्पष्टतया शिक्षा दूँगी तो उसके ऊपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा। सम्भव है कि वह इससे मेरी शिक्षा को ग्रहण न कर अवहेलना करने लगे। इसलिये उसको ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जिसमें भगवद्भक्ति का विरोध होने पर भी उसका प्रतिपादन प्रतीत हो। इसी अभिप्राय से महारानी कयाधू एक दिन एकान्त में बालक प्रह्लाद को इस प्रकार शिक्षा देने लगीं।

महारानी कयाधू–'बेटा प्रह्लाद! उस दिन राजोद्यान में तुमने जो हरिभक्ति की चर्चा की थी और मैंने उसका विरोध किया था, वह तुम्हें याद है न? इसमें कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रानुकूल किसी कार्य के किये जाने पर उसमें जैसी अधिक सफलता हो सकती है वैसी मनमाने ढंग से काम करने में नहीं हो सकती। तुमने अब तक जो हरिभक्ति की ओर अपने चित्त को लगाया है वह न तो शास्त्रानुकूल है और न गुरूपदिश्य मार्ग से ही वह कार्य किया गया है अतः मेरी समझ से तुम भूलते हो। संसार में माता के लिये पुत्र से अधिक प्यारी कोई दूसरी वस्तु नहीं और बेटा जिसको सबसे अधिक प्यार करे, उसका विरोध भी माता को नहीं करना चाहिए। इसलिये हे प्रह्लाद! इस समय मैं तुमको शास्त्रानुसार भगवद्भक्ति की शिक्षा देना चाहती हूँ और भगवद्भक्तों के उन लक्षणों

को बतलाना चाहती हूँ जो महर्षि नारदजी ने कहे हैं। आशा है कि तुम ध्यानपूर्वक सुनोगे।'

प्रह्लाद–'माताजी ! आपने सत्य ही कहा है कि शास्त्रानुकूल अथवा गुरूपदिश्य मार्ग से ही भक्तिसाधन में सफलता हो सकती है; किन्तु गुरु तो वही हो सकता है जो स्वयमेव भक्ति करता हो। आप तो भगवद्भक्ति का नाम भी नहीं सुनना चाहती फिर आप मुझको भक्ति की शिक्षा कैसे दे सकेंगी ?'

माता कयाधू–'बेटा ! तुम बातें तो बड़ी-बड़ी करते हो, किन्तु यह नहीं जानते कि तुम्हारे पिताजी के भय से हमी क्या, न जाने कितने लोग ऐसे मिलेंगे, जो अन्तःकरण से हरि के परमभक्त होते हुए भी ऊपर से 'हरिद्रोही' बने हुए हैं। अतएव हम लोगों के आचरण पर नहीं, बल्कि उपदेशों पर ही तुमको ध्यान देना चाहिये।'

प्रह्लाद–'अच्छा, अच्छा माताजी ! अप्रसन्न मत हूजिये, कहिये मैं सुनता हूँ किन्तु शीघ्र ही अपना उपदेश समाप्त कर दीजिये, कहीं पिताजी न आ जायँ।'

कयाधू–'बेटा ! नारदजी ने कहा है 'जो सभी प्राणियों के हितचिन्तक हैं, ईर्षा, अहङ्कार आदि दुर्गुणों से रहित हैं, संयमी एवं सब प्रकार की इच्छाओं से रहित हैं, वे भगवद्भक्तों में उत्तम कहे जाते हैं। जो मन, वचन एवं कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा नहीं देते और स्त्रियों की आसक्ति से रहित हैं, वे ही भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य श्रेष्ठ कथाओं के सुनने में मन लगाते हैं और कथावाचक

पर जिनकी भक्ति होती है, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग अपने माता-पिता को गंगा और शिव के समान पूज्य मानते एवं उनकी आज्ञानुसार सेवा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो देवताओं की पूजा में रत रहते हैं और भगवान् हरि की पूजा को देख कर आनन्दित होते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो अपने वर्ण एवं आश्रम में रहनेवाले धर्मात्माओं की, विशेष कर यतियों की सेवा करते हैं और पराई निन्दा से सदा पराङ्मुख रहते हैं, वे ही भगवद्भक्त हैं। जो लोग सदा प्रिय वचन बोलते हैं, कभी भी किसी को कठोर वचन नहीं कहते तथा संसार में गुण को ग्रहण करते और दोषों की ओर ध्यान ही नहीं देते वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन संसार में सभी प्राणियों को अपने ही समान समझते हैं और शत्रु तथा मित्र दोनों ही को समान भाव से देखते हैं अर्थात् शत्रु से भी मित्रभाव रखते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन, धर्मशास्त्र के वचनों में तथा धर्मशास्त्र के वक्ताओं के वचनों में विश्वास करते एवं उनका पालन करते हुए सज्जनों की सेवा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो स्वयं पुराणों की व्याख्या करते हैं, पुराणों को सुनते हैं तथा जो पुराणवक्ताओंके भक्त हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन गौओं और ब्राह्मणों की निरन्तर सेवा करते हैं तथा तीर्थयात्रा में परायण हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग दूसरों की बढ़ती देख कर प्रसन्न होते हैं तथा सदा हरिनाम जपते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य, बाग-बगीचे लगाते, वृक्षों का आरोपण करते हैं, कूप-तालाब एवं सरोवर खुदवाते तथा बनवाते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन सरोवर बनवा कर उसके समीप देव-मन्दिर की रचना करते

हैं और गायत्री को सदा जपते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन विष्णु के नामों को सुन कर रोमाञ्चित होकर पुलकित हो जाते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य तुलसीवन को देख कर प्रणाम करते हैं और तुलसी की माला गले में धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन तुलसीजी की सुगन्धि से प्रसन्न रहते और उनके मूल की रज को मस्तक पर चढ़ाते हुए, अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य अपने आश्रमधर्म का पालन करते हुए अतिथियों का यथोचित सत्कार करते हैं और वेदों के अर्थ के ज्ञाता एवं वक्ता हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो मनुष्य शिवजी के प्यारे एवं शिवजी पर आसक्तचित्त हैं तथा त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन भगवान् शम्भु के नामों का उच्चारण करते हैं तथा रुद्राक्ष की माला को धारण करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो लोग बड़ी-बड़ी दक्षिणा से युक्त यज्ञों से शिवजी की पूजा करते हैं अथवा परमभक्ति से भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन, शिवजी में और परमेश्वर में, विष्णुभगवान् और परमात्मा में समान वृत्ति से बर्तते हैं अर्थात् विष्णु और शिव में अभेद बुद्धि रखते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो जन, शिवजी को पूजते हैं और उन्हींके पञ्चाक्षर-मन्त्र को जपते एवं उनके ही ध्यान में परायण हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो विद्वान्, अपने पठित शास्त्रों को दूसरों को पढ़ाते हैं, ज्ञानदान करते हैं वे गुणीजन अपनी कीर्ति से प्रकाशित भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन सदावर्त देते अर्थात् अन्नदान देते हैं और पौसला (पिआऊ) चलाते हैं

तथा सदैव एकादशी का व्रत करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो दानशील जन, गोदान और कन्यादान करते हैं तथा जो भगवदर्थ कर्म किया करते हैं, वे भगवद्भक्त हैं। जो सज्जन भगवान् में चित्त लगाते हैं तथा भगवद्भक्तों को देख कर प्रसन्न होते हैं और भगवान् के नामस्मरण में लगे रहते हैं वे भगवद्भक्त हैं। विशेष क्या कहें, बेटा! नारदजी ने अन्त में कहा है कि जिनमें मनुष्यों के श्रेष्ठ गुण विद्यमान हैं, वे सब भगवद्भक्त हैं।' अब तुमको इन लक्षणों में से भगवद्भक्त के उन लक्षणों को ग्रहण कर लेना चाहिए जो परस्पर विरोधी न हों। जैसे पिताजी को शिव के समान पूज्य मान कर उनकी आज्ञानुसार ही उनकी सेवा करना, शिवजी की पूजा-आराधना और उनके मन्त्र का जप-ध्यान करना, रुद्राक्ष धारण करना और उनके प्रसन्नार्थ बहु दक्षिणावाले यज्ञों को करना। इतना ही नहीं, विष्णु-भक्ति एवं विष्णु-नाम जपने एवं वैष्णवों की सेवा-शुश्रूषा के अतिरिक्त तुम अन्यान्य सभी धर्मों का पालन कर सकते हो और भगवद्भक्त बन सकते हो, किन्तु विष्णु-सम्बन्ध जोड़ने से पिता का विरोध होगा जो भगवद्भक्त के धर्म के सर्वथा विरुद्ध पड़ता है। अतएव मैं तुमसे यही कहती हूँ कि 'बेटा! अपने दोनों लोक बनाओ और पूज्यपाद पिता तथा परमपिता भगवान् शङ्कर की भक्ति करके भगवद्भक्त के उत्तम पद को ग्रहण करो। यही शास्त्रसम्मत मार्ग तुम्हारे लिये सरल और हमारे लिये सुखप्रद है।'

प्रह्लाद—'माताजी! आपके भगवद्भक्त के लक्षण सचमुच बड़े उत्तम हैं और मैं भी भगवान् विष्णु से यही प्रार्थना करता हूँ कि

वे मेरी पितृभक्ति सदा बनाये रक्खें और पिताजी के हृदय को ऐसा बदल दें जिससे अकारण शत्रुता का भाव मिटे और आपके कथनानुसार मेरे दोनों लोक बनें और आपको भी मेरे द्वारा कष्ट एवं चिन्ता न होकर परम सुख मिले।'

पुत्र पर अपने उपदेशों का कुछ भी प्रभाव पड़ते न देख माता को बड़ी चिन्ता हुई और वह सोचने लगीं कि अब मैं इसको किसी दूसरे दिन समझाऊँगी। इसकी विष्णु-प्रीति हटती नहीं और स्वामी के हृदय से विष्णुद्रोह हटनेवाला नहीं। अस्तु, उद्योग करने का विचार उन्होंने फिर भी नहीं त्यागा और विलम्ब होते देख, बालक प्रह्लाद को भोजन के लिये ले गयीं। पुत्र को भोजन करा कर स्वयं फिर अपनी चिन्ता में लग गयीं कि पुत्र को कैसे रास्ते पर लाया जाय।

जिस भगवद्भक्तिरूपी रसामृत को पाने के लिये लोग तप और योग करते-करते थक जाते हैं, जिस तत्त्व को समझने के लिये जीवनपर्यन्त बड़े-बड़े तपस्वी न जाने कौन-कौन-सी साधनाएँ किया करते हैं और जिस अलभ्य पदार्थ के पाने के लिये न जाने कितने योगीजन कितने ही जन्म बिताते और जप-योग की समाधि लगाते हैं, उसी अलभ्य पदार्थ को, उसी भगवद्भक्ति के रसामृत को जिस बालक प्रह्लाद ने अपनी इस छोटी-सी अवस्था में पा लिया है, उसको समझानेवाला और समझा-बुझा कर उसके हाथों से, नहीं उसके हृदय से निकाल फेंकनेवाला संसार में कौन है? अपने स्वार्थवश अथवा प्राणपति एवं प्राणाधिक प्रिय पुत्र के बीच

सद्भाव बनाये रखने के लिये पतिव्रता एवं पुत्रवत्सला कयाधू भले ही जी तोड़ कर परिश्रम करती रहें, किन्तु बालक प्रह्लाद के हृदय से भगवद्भक्ति का दूर होना और उनके मुख से हरिनाम-कीर्तन की अमृतधारा का रुकना कष्टसाध्य नहीं सर्वथा असम्भव है।

अब प्रह्लाद का सारा समय भगवान् की कीर्ति गाने और उनके नामकीर्तन एवं चरणवन्दना में ही बीतने लगा। प्रह्लाद का जीवन इस छोटी-सी अवस्था में ही प्रेममय हो गया और सारा संसार उनको अपना ही कुटुम्ब-सा दिखलायी देने लगा। उनके मन में राजपुत्र होने का कुछ भी अभिमान न था। सादगी, सरलता, साधुता और पवित्रता के अतिरिक्त उनके हृदय में किसी भी विकार को स्थान ही न था। यह दृढ़ सिद्धान्त है कि बिना आधार के मन की अस्थिरता दूर नहीं हो सकती। प्रह्लादजी सब कुछ जानते थे, उनको सब तत्त्व ज्ञात थे, परन्तु अभी उनकी बुद्धि में कुछ चञ्चलता शेष थी, वह उसको दूर कर बुद्धि को एक परमात्मा में स्थिर करना चाहते थे, इसी विचार से प्रह्लाद अपने आराध्यदेव को निज हृदय-मन्दिर के बाहर देखने के लिये भी लालायित हुए और पिता से छिपा कर उन्होंने भगवान् हरि की एक मूर्ति रक्खी। उसी सुन्दर मूर्ति की वे उपासना करने लगे और उसीसे उन्होंने अपना प्रेम बढ़ाया। इस प्रकार उन्होंने अपने चित्त को साधार उपासना में लगाया। मूर्ति के आधार को पाकर उनकी पवित्र भक्तिरूपी सुर-सरिता ऐसी उमड़ी कि फिर वह जीवनपर्यन्त बढ़ती ही गयी।

चौदहवाँ अध्याय

प्रह्लाद की दीनबन्धुता

पिता से सत्याग्रह



क ओर बालक प्रह्लाद की अव्यभिचारिणी भक्ति रात-दिन उनको भगवान् विष्णु की ओर खींचती थी, दूसरी ओर हिरण्यकशिपु के अन्तःकरण की अटूट शत्रुता विष्णु के न पाने से प्रत्येक क्षण बड़ी तेजी से बढ़ रही थी। दोनों ही पिता-पुत्र रात-दिन भगवान् के ध्यान में लगे रहते थे और दोनों ही के हृदय से एक क्षण के लिये भी भगवान् विष्णु बाहर नहीं जाने पाते थे। हाँ, दोनों में एक अन्तर था और वह यह कि पिता शत्रुभाव से उनकी चिन्ता में था और पुत्र भक्तिभाव से !

हिरण्यकशिपु ने देखा कि विष्णु का साधारण रीति से हमें मिलना सम्भव नहीं। इस कारण उसने बड़े-बड़े भयङ्कर उत्पात मचाने आरम्भ कर दिये। उसके असुर अधिकारियों ने विशेष-कर उसके छोटे साले 'धूम्राक्ष' और 'कुम्भनाक' आदि दानवों ने सारे साम्राज्य में न जाने कितने निरपराध विष्णु-भक्तों को नष्ट कर डाला। ये दुष्ट दानव प्रतिदिन कहीं-न-कहीं से एक-न-एक वैष्णव का सिर काट कर लाते और हिरण्याक्ष की विधवा स्त्री 'भानुमती' के सामने रखते थे। भानुमती का प्रण था, वह जब तक एक वैष्णव का सिर सामने कटा हुआ न देख लेती,

तब तक वह न तो अपना लौकिक नित्यकर्म करती और न जल पीती थी। दैत्यराज के असुर अधिकारी सारे साम्राज्य में अन्धेर मचाये हुए थे। किसी को कोल्हू में पिसवाते, किसी को कुत्तों से कटवाते और किसी को जीते-जी भूमि में गड़वा देते थे। किसी को फाँसी पर चढ़ाते, तो किसी को यों ही वृक्षों पर नीचे सिर करके लटकवा देते। असुरों के इन अत्याचारों से लोग घबड़ा गये। चारों ओर 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' के करुणोत्पादक शब्द सुनायी पड़ने लगे। दैत्यों ने अपने पराक्रम से स्वर्ग को रसातल बना दिया और देवराज इन्द्र को बन्दीगृह में बन्द कर मानों उन्होंने देवराज इन्द्र से हिरण्यपुर के आक्रमण का बदला चुका लिया।

बालक प्रह्लाद, असुरों के इन अत्याचारों के समाचारों को सुन कर अत्यन्त दुखी हुआ करते थे। उनको इतना कष्ट होता था कि कभी-कभी वह उनके दुःखनिवारणार्थ सत्याग्रह कर बैठते थे। दीन-दुखियों के करुण-क्रन्दन को सुन कर वह रो पड़ते और उनका शरीर काँप उठता था। जब कभी बालक प्रह्लाद के सामने कोई दीन-दुखिया सताया जाता था, तब वह अपनी माता से उसके छुड़वाने के लिये हठ करते और यदि वह नहीं छोड़ा जाता तो वह खाना-पीना छोड़ अनशनरूपी सत्याग्रह करने लगते थे। महारानी ने कई बार पुत्र के सत्याग्रह के कारण न जाने कितने बन्दियों को अपने भाई कुम्भनाक एवं धूम्राक्ष आदि असुरों से कह-सुन कर छुड़वा दिया था और कभी-कभी तो बालक प्रह्लाद ने स्वयं अपने पिता ही से प्रबल आग्रह करके दीन-

दुखियों को दण्ड से मुक्त करवाया था। कभी-कभी जब पिता प्रह्लाद की बात न मानते तब वे अनशन का सत्याग्रह करने लगते थे। इन बातों से उनके सारे साम्राज्य में उनकी दयालुता की बात चारों ओर फैल गयी और दीन-दुखिये, ऋषि, देवता और पितरगण उन्हें मुक्तकण्ठ से आशीर्वाद देने लगे। इतना ही नहीं, उनके भय से दैत्यराज हिरण्यकशिपु के कर्मचारियों के घोर अत्याचार भी शिथिल-से होने लगे और इस बात की विशेष सावधानी रक्खी जाने लगी कि किसी प्राणी को प्रह्लाद के सामने दण्ड न दिया जाय, उनके कानों तक किसी के रोने-पीटने के शब्द सुनायी न पड़ें और उनके सामने कोई दुखिया न जाने पावे।

जो दैत्यराज, इन्द्र को बन्दी बनाये हुए था, विष्णुभगवान् को मारने के लिये रात-दिन उनकी खोज में लगा रहता था और सारे दिक्पालों का, तीनों लोक और चौदहों भुवन का अधीश्वर था वही हिरण्यकशिपु, स्नेहवश अबोध बालक के हठ के सामने झुक जाता था। पुत्र के हठ के सामने वह अपनी दण्डाज्ञा को रद्द कर देता था और पुत्र की आँख बचा अत्याचार करता था। वह सब क्या था? किस भय से वह ऐसा करता था और उस छोटे-से बालक के हाथ में वह कौन-सा अस्त्र था, जिसके कारण पिता पर उसका इतना आतङ्क था? यह वही अस्त्र था जो निरस्त्र प्राणियों के हाथों में होता है। यह वही भय था जो निर्बल प्राणियों के सतानेवाले के हृदय में ईश्वर की प्रेरणा से उत्पन्न हो जाता है और यह वही आतङ्क था जो एक सच्चे भगवद्भक्त की दृढ़ता

पिता के दर्शन को न आने पाते, तब उनकी प्रेममयी माता कयाधू स्वयं अपने प्राणपति दैत्यराज से अनुरोध करके दैत्यराज के साथ-साथ गुरुकुल में जातीं और अपने प्राणोपम पुत्र ब्रह्मचारी प्रह्लाद को देख, और गुरुकुलवासियों से उनकी प्रशंसा सुन, मन-ही-मन आनन्द के अपार सागर में मग्न होती हुई लौट आती थीं।

थोड़े ही से समय में अपने पाठ को पूरा करके प्रह्लाद भगवान् की लीलाओं के स्मरण और दर्शन के आनन्द में मग्न हो रहते थे। कभी एकान्त में और कभी सबके बीच में बैठ कर वे भगवान् का ध्यान करते थे; किन्तु पाठशाला के छात्रों पर उनकी प्रतिभा का इतना अधिक प्रभाव था कि उनसे कोई कभी यह नहीं पूछता था कि, प्रह्लाद, तुम आँखें बन्द किये हुए बैठे-बैठे क्या करते हो? जैसे-जैसे प्रह्लाद की शास्त्रीय शिक्षा बढ़ती गयी, वैसे-ही-वैसे उनकी विष्णु-भक्ति भी बड़ी तेजी से बढ़ती चली गयी, विद्यालाभ करने के कारण ही मानों उनकी भगवद्भक्ति का रहस्य विद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों को याथातथ्य नहीं मालूम हो पाया। इसी प्रकार प्रह्लाद का समय गुरुकुल में भगवच्चिन्तन के आनन्द में बीतता गया और वर्षों का समय जाते किसी को भी मालूम न पड़ा। सब लोग यही समझते थे कि प्रह्लाद तो अभी आये हैं, अभी ये बहुत दिन रहेंगे और हम लोगों को इनके सहवास का यह आनन्द अधिक दिनों तक प्राप्त होता रहेगा।

समय की गति बड़ी वेगवती है, अन्त में वह समय भी आ गया जब प्रह्लाद ने वेद-वेदाङ्ग तथा अन्यान्य शास्त्रों की शिक्षा

समाप्त कर ली। अब उनके समावर्तन का समय उपस्थित हुआ। पद्मपुराण में लिखा है कि—

'अधीत्य सर्ववेदांश्च शास्त्राणि विविधानि च।
कस्मिंश्चित्त्वथ काले च गुरुणा सह दैत्यजः॥
पितुः समीपमागत्य ववन्दे विनयान्वितः॥'

अर्थात् दैत्यराज के पुत्र प्रह्लादजी समस्त वेदों तथा विविध शास्त्रों को पढ़ कर एक दिन गुरुकुल से अपने गुरुवर के साथ पिता हिरण्यकशिपु के समीप गये और वहाँ पहुँच कर उन्होंने पिता को सविनय प्रणाम किया।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने गुरु-पुत्रों के साथ आये हुए ब्रह्मचारी पुत्र प्रह्लाद को प्रणाम करते देख सहर्ष अनेकानेक आशीर्वाद दिये और स्वयं आचार्य-पुत्रों को प्रणाम किया। आचार्य-पुत्रों को सुन्दर उच्च आसन देकर दैत्यराज ने प्रह्लाद को अपनी गोद में उठा लिया और कुशल-प्रश्न पूछने के पश्चात् आचार्य-पुत्रों से प्रह्लाद की शिक्षा-समाप्ति की प्रशंसायुक्त बातें सुन, समावर्तन के लिये विचार करते हुए प्रश्न किया कि—'बेटा प्रह्लाद! तुम विद्या प्राप्त करने के लिये बहुत दिनों तक गुरुजी के स्थान पर रहे हो। गुरुजी के द्वारा तुमने जो उत्तम ज्ञान प्राप्त किया है वह हमें सुनाओ*।'

---

*प्रह्लाद चिरकालं त्वं गुरुगेहे निवेशितः। यदुक्तं गुरुणा वेद्यं तन्ममाचक्ष्व सुव्रत॥
(पद्मपुराण उत्तर खं० अ०९३)

अनेक विद्वानों के मत से अक्षरारम्भकाल से ही दैत्यराज को प्रह्लाद की विष्णु-भक्ति का पता लग गया था और पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्हें सारी ताड़नाएँ दी गयी थीं। कुछ पुराणों में भी अस्पष्टरूप से किन्तु विद्यारम्भ ही से उनकी विष्णु-भक्ति की चर्चा फैलने, उनके पीड़ित किये जाने एवं उनकी रक्षा में भगवान् श्रीनृसिंह के अवतार ग्रहण कर हिरण्यकशिपु के बध करने का उल्लेख है। परन्तु पूर्वापर के विचार से पद्मपुराण की बातें हमारी बुद्धि में समाती हैं और सङ्गति लगाने से किसी पुराण का मतभेद भी इससे नहीं होता। अतएव हमारे विचार में जिस समय प्रह्लाद से पहले-पहल दैत्यराज ने यह पूछा कि 'हे ब्रह्मचारी प्रह्लाद, हे सुव्रत ! तुमने जानने योग्य जो बातें गुरुवर से सीखी हैं वे बतलाओ।' उस समय उनकी अवस्था कुमार नहीं, किशोर थी और वे निरे बालक नहीं, विद्वान् ब्रह्मचारी थे।

ब्रह्मचारी प्रह्लाद ने बड़ी ही नम्रतापूर्वक गुरु-चरणों तथा पिता के चरणों में सादर प्रणाम कर अपना कथन प्रारम्भ किया—

'यो वै सर्वोपनिषदामर्थः पुरुष ईश्वरः।
तं वै सर्वगतं विष्णुं नमस्कृत्वा ब्रवीमि ते॥'

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् जो समस्त उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित सबका स्वामी पुरुष नाम ईश्वर है उस सर्वव्यापी विष्णु को मैं नमस्कार करके कहता हूँ। ज्यों ही प्रह्लाद के मुख से अपने परम शत्रु उस विष्णुभगवान् की, जिसको मारने की चिन्ता में

दैत्यराज रात-दिन व्यग्र रहता था, स्तुति सुनी, त्यों ही सहसा उसका क्रोध भड़क उठा। चित्त बड़े विस्मय में पड़ गया और उसको प्रह्लाद पर नहीं, प्रत्युत अपने आचार्य-पुत्रों पर बड़ा क्रोध उपजा। उसने कहा कि—'हे गुरुपुत्रो ! तुमने अबोध जान कर प्रह्लाद को यह क्या शिक्षा दी है? मेरे लड़के को इस प्रकार जड़तापूर्ण शिक्षा तुम लोगों ने क्यों दी? मेरी समझ में यह बात नहीं आती। तुम लोगों ने इतनी ढिठाई की है कि जो मेरे लिये असह्य है। तुमने मेरे परम शत्रु की स्तुति मेरे ही सामने और मेरे ही पुत्र के मुख से करवायी है, यह क्या अक्षम्य अपराध नहीं है? इसमें सन्देह नहीं कि, इस ब्रह्मचारी प्रह्लाद ने तुम्हारी ही कृपा से यह सब कुछ सीखा है और तुम लोगों ने मेरे उपकारों को तथा भय को भुला कर ये जो ब्राह्मणों-जैसे निरंकुशता-पूर्ण कार्य किये हैं, इसके लिये तुम लोगों को मैं अवश्य ही समुचित दण्ड दूँगा। हे द्विजाधम ! तुम लोगों को मैंने पहले ही भली भाँति समझा दिया था। उस समय तुम लोगों ने कैसी-कैसी चाटुकारी की बातें कही थीं? क्या अब तुम लोगों को उनका स्मरण नहीं है? मेरी समझ से तुम लोगों ने यह अक्षम्य अपराध भ्रम-वश नहीं किन्तु प्रमाद-वश किया है। अतएव तुम लोग प्राणदण्ड के योग्य हो, किन्तु गुरु-पुत्र होने के कारण मैं तुम लोगों को अभी क्षमा करता हूँ। परन्तु जब तक आचार्यवर शुक्रजी महाराज नहीं आवेंगे तब तक के लिये मैं तुम लोगों को कारागार में बन्द रक्खूँगा। कारण, मुझे यह भय है कि, तुम लोग स्वतन्त्र रहोगे

से अत्याचारियों के सामने उपस्थित होता है । इसी का नाम लोगों ने 'सत्याग्रह' रख लिया । सत्याग्रही प्रह्लाद सदा पिता के सामने पुत्र ही के रूप में खड़े होते थे । प्रह्लाद पिता का वैसा ही सम्मान करते थे जैसा एक पितृ-भक्त पुत्र को पिता के प्रति करना उचित है । प्रह्लाद अपने पिता के अत्याचारों का प्रतिवाद करके न तो कभी उनकी निन्दा करते थे और न अपने किसी आचरण से उनका अपमान ही होने देते थे । वह पुत्रधर्म का पूर्णरीत्या पालन करते थे और इसी कारण से उनकी अबोध दशा में उनके पिता के कठोर हृदय पर भी सत्याग्रह का प्रभाव पड़ता था और वह उनके सत्याग्रह के सामने सिर झुकाता था ।

एक दिन दैत्यराज अपने अन्तःपुर में गया हुआ था । महारानी कयाधू और हिरण्यकशिपु दोनों ही अपने पुत्र के (प्रह्लाद के) अनुपम शील एवं अलौकिक सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहे थे । इतने में बालक प्रह्लाद भी साथी बालकों के साथ नाचते-कूदते न जाने किस ध्यान में मग्न हो वहाँ जा निकले, प्रह्लाद ने आने के साथ ही पिताजी के चरणों में शिर नवाया और दैत्यराज ने भी आशीर्वाद दे और सिर सूँघ कर उन्हें अपनी गोद में उठा लिया । दैत्यराज ने बड़े प्रेम के साथ पूछा—'बेटा प्रह्लाद ! तुम्हारी बोली तो बड़ी मधुर है, तुम्हारा हृदय भी बड़ा कोमल है किन्तु हमारे साथ जब तुम 'सत्याग्रह' करने लगते हो तो बड़े निठुर हो जाते हो । इसका क्या कारण है ? तुम तो उस समय अपना-पराया सब कुछ भूल जाते हो, यह क्यों ?"

प्रह्लाद—'पिताजी ! मैंने तो आपसे कभी निठुराई नहीं की। आपसे जब-जब मैंने किसी पीड़ित के मुक्त करने की भिक्षा माँगी तब आपने दया करके अपनी उदारता दिखलायी; किन्तु जब कभी आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, तब मैंने अपने मन में समझा कि मेरा पूर्वजन्म का कोई घोर पाप है जिससे मेरे हृदय को दीन-दुखियों के दमन का कष्ट सहन करना पड़ रहा है और मेरे जन्मदाता पूज्यपाद पिता भी प्रार्थना करने पर मेरे हार्दिक दुःख का अनुभव नहीं कर पाते हैं। तब, मैं अपने आपको, उस पूर्वजन्म के पाप से मुक्त करने के लिये दण्डित करना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे पास दूसरा अधिकार ही क्या है ? इसलिये मैं केवल अनशन करने लगता हूँ। इस प्रकार प्रायश्चित्त द्वारा मेरे पूर्वजन्म का पाप जब मार्जित हो जाता है, तब आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लेते हैं। इसमें पिताजी, मेरी कठोरता क्या हुई ?'

हिरण्यकशिपु—'बेटा प्रह्लाद ! तुम्हारी बातें तो, ऐसी होती हैं कि मानों कोई बड़ा चतुर सर्वशास्त्रका वेत्ता बोल रहा हो। अस्तु, हम चाहते हैं कि, तुम आज हमसे कुछ माँगो। बतलाओ, इस समय तुम क्या चाहते हो ?'

प्रह्लाद—'पिताजी ! आपकी कृपा से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, किन्तु आपने माँगने की आज्ञा दी है, इसलिये मैं आपकी आज्ञा को टालना भी नहीं चाहता। यदि आप मुझे दें तो यही दें कि आज से किसी प्राणी को आपके साम्राज्य में कोई आततायी सताने न पावे और किसी को दण्ड देना ही हो तो उसके बदले मुझे दे दिया जावे।'

हिरण्यकशिपु–'बेटा ! तुम अभी अबोध बालक हो, तुम्हारा हृदय दयामय है, किन्तु शासन में दण्ड का विधान आवश्यक होता है। यदि प्रजा को यह मालूम हो जाय कि इस राजा के राज्य में किसी को दण्ड नहीं दिया जाता तो चोरों, डाकुओं और अन्यान्य अत्याचारियों के अत्याचार और अपराध इतने बढ़ जायँ कि फिर उनका सँभालना कठिन हो जाय। अवश्य ही दया का भाव होना चाहिए, पर अपराधी को दण्ड देना भी तो उसपर दया करना है। दण्ड से शरीर शुद्ध हो जाता है। जो अपराधी राजदण्ड से बच जाते हैं, चाहे वे किसी भी कारण से बच जायँ वे यमदण्ड के भागी होते हैं। यमदण्ड राजदण्ड से अधिक कष्टदायी और अधिक काल के लिये होता है। सारांश यह कि राजा का धर्म है कि अपराधी को दण्ड दे। यदि राजा अपराधी को तो दण्ड न दे और उनके बदले निरपराध प्राणियोंको दण्ड दे तो वह स्वयं अपराधी बनता और यमदण्ड का भागी होता है।'

प्रह्लाद–'पिताजी ! आपका कथन यथार्थ है, किन्तु जो बेचारे अपराधी नहीं हैं, उनपर तो आप दया किया करें और अपने अधिकारी असुरों से कह दें कि वे निरपराध देवताओं को तथा उनके अनुयायियों को कभी सताया न करें।'

हिरण्यकशिपु–'बेटा ! जब तुम्हारा जन्म नहीं हुआ था तब की बात है। इससे तुमको पता नहीं है। देवताओं ने हमारी अनुपस्थिति में अकारण हमारे नगर पर आक्रमण कर सारी राजधानी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और इतने अत्याचार किये थे कि जिनका

वर्णन भी नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि तुम्हारे गर्भमें होने पर भी तुम्हारी माता को देवराज इन्द्र बलात्कार से हरण करके ले जा रहा था। यदि महर्षि नारद न मिल गये होते तो न जाने तुम्हारी माता की क्या दशा हुई होती और तुम्हारी क्या गति होती। अतएव देवता हमारे केवल साधारण शत्रु ही नहीं, आततायी शत्रु हैं। उनका बध करना ही धर्म और राजनीतिज्ञता है। उनके सिवा अबसे अन्यान्य निरपराध प्राणियों को हमारे साम्राज्य में कोई भी सताने नहीं पावेगा। इस बात के लिये तुम निश्चय जानो।'

इतनी बात समाप्त होते-होते किसी आवश्यक कार्य के लिये एक राजदूत ने प्रार्थना की और दैत्यराज राजसभा में चले गये।



पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रह्लाद की शिक्षा

गुरुकुल-वास



चीन भारतवर्ष में विद्या का इतना अधिक प्रचार और महत्त्व था कि प्रत्येक मनुष्य के लिये उसका प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। साधारण श्रेणी के प्रजाजनों को छोड़ शेष सभी द्विजातियों के बालक उपनयन-संस्कार होने के साथ-ही-साथ शिक्षा प्राप्त करने को अपने-अपने गुरुकुलों के लिये प्रस्थान करते थे। गुरुकुलों में विद्या प्राप्त करने के पश्चात् उनका समावर्तन-संस्कार होता था तब वे लौट कर गृहस्थाश्रम के नियमानुसार अपना योगक्षेम करते थे। गुरुकुलों में विद्यार्थियों को उनके वर्ण, उनकी कुल-परम्परा, रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार साङ्गोपाङ्ग वैदिक शिक्षा के साथ-ही-साथ, शस्त्रास्त्र-शिक्षा, मल्लविद्या की शिक्षा तथा विविध कलाओं की शिक्षा भी सुचारुरूप से दी जाती थी।

विद्यार्थियों के गुरुकुल-वास से बहुत बड़ा लाभ होता था। न तो माता-पिता के अनुचित लालन-पालन में पड़ कर लड़के खराब होते थे और न उनको अपने ब्रह्मचर्य-पालन में गार्हस्थ्य जीवन की कठिनाइयाँ और उनके संसर्ग ही बाधक होते थे। विद्यार्थियों का भविष्य जीवन आनन्दमय, शरीर हृष्ट-पुष्ट और बल-वीर्य-सम्पन्न होता था। इन्हीं कारणों से प्राचीन भारतवर्ष के

सन्तान धीर, वीर और गम्भीर होते तथा अपने पूर्व-पुरुषों की गौरव-गरिमा को बढ़ाने में समर्थ होते थे।

जिस प्रकार अन्यान्य द्विजातियों के बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिये गुरुकुलों में निवास करते थे, उसी प्रकार बड़े-बड़े सम्राटों के राजकुमार भी गुरुकुलों में समान-शील विद्यार्थियों के साथ विद्या-अध्ययन करने के लिये निवास करते थे। गुरुकुलों में राजकुमारों को भी विद्यार्थियों के सभी धर्मों का पूरा-पूरा पालन करना पड़ता था और राजकुमार के वेष में नहीं, प्रत्युत एक साधारण ब्रह्मचारी विद्यार्थी के वेष में रहना पड़ता था। इसका परिणाम यह होता था कि, राजकुमारों के हृदय में वृथा दम्भ, अनुचित अभिमान, विद्वेष और घृणा के भाव घुसने ही नहीं पाते थे। गुरुकुलों में भाँति-भाँति के सुख-दुःख सहने के कारण राजकुमारों को शासनधुरी चलाते समय अपनी दीन-हीन प्रजा के सुख-दुःख का पूरा अनुभव होता था और उससे राजा तथा प्रजा दोनों ही लाभ उठाते थे। इसी गुरुकुली शिक्षा के प्रभाव से प्राचीन भारत के नवयुवक विद्यार्थी सदाचारी, धार्मिक और ईश्वरभक्त होते थे और अपने गुरुवरोंको गुरुदक्षिणा में अपने प्राणों तक को अर्पण कर देते थे न कि, आजकलके समान सदाचार-हीन, धर्म-विरोधी और ईश्वर-विद्रोही विद्याप्राप्त विद्यार्थी, जो अपने आचार्यों के प्रति 'नष्टदेव की भ्रष्ट पूजा' वाली लोकोक्ति को चरितार्थ किया करते हैं। मनुष्य ही नहीं, सुर, असुर भी विद्याध्ययन करते थे और उससे पूर्ण लाभ उठाते थे।

उस समय गुरुकुलों के सञ्चालनार्थ न तो कोई चन्दा एकत्र किया जाता था और न उसके सञ्चालन में गुरुओं को कठिनाई होती थी। राजाओं की ओर से उनके सञ्चालनार्थ पूरा प्रबन्ध रहता था और सर्वसाधारण भी यथासाध्य सहायता एवं सेवा करने के लिये सदा तैयार रहते थे और करते भी थे। गुरुकुल भी दो प्रकार के होते थे। एक तो निर्जन वन की तपोभूमियों में, जिनमें विरक्त आचार्य अपने-अपने आश्रमों में छात्रों को विविध प्रकार की विद्याएँ पढ़ाते थे, और दूसरे नगरों के बाहर किन्तु समीप में ही गृहस्थ महर्षियों के पवित्र आश्रमों में होते थे। वहाँ उपनीत छात्र अपनी रुचि, अपने अधिकार एवं आवश्यकता के अनुसार कला-कुशलता, शस्त्र-अस्त्र-शिक्षा, यन्त्रविद्या आदि के साथ-ही-साथ सांगोपांग वैदिक धर्म की शिक्षा ग्रहण करते थे। दोनों ही प्रकार के गुरुकुलरूपी आचार्यों के आश्रमों में दोनों प्रकार के विरक्त एवं गृहस्थ आचार्य, अपने-अपने आश्रमवासिक विद्यार्थियों की देख-भाल, पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा में उतने ही तत्पर रहते थे, जितना कि कोई भी गृहस्थ अपने निजके बाल-बच्चों की देख-भाल, पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा के लिये तत्पर रह सकता है। इन्हीं कारणों से उस समय आचार्यों का महत्त्व था, उनके आश्रमों की प्रतिष्ठा थी और साधारण श्रेणी के गृहस्थ से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा एवं सम्राट् तक अपने-अपने प्राणाधिक पुत्रों को गुरुकुलों में एकाकी भेज देने में किसी प्रकार की भी अड़चन नहीं समझते थे।

हिरण्यपुर नगर, जो दैत्यराज हिरण्यकशिपु की राजधानी थी और जिसको किसी-किसीने मौलिस्नान, मूलस्थान तथा कश्यपपुरी के नाम से लिखा है, और जो आजकल पंजाब सूबे का प्रसिद्ध नगर मुलतान के नाम से प्रसिद्ध है, समीप ही शुक्राचार्यजी का आश्रम था, जिसमें उनके दोनों विद्वान् पुत्र षण्ड और अमर्क छात्रों को विद्यादान देते थे। इस आश्रम में प्रायः सभी प्रकार के छात्र पढ़ते थे, किन्तु दैत्य-दानव-वंशीय छात्रों की अधिकता थी। इसी आश्रम में या यों कहें कि इसी गुरुकुल में दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्रों तथा भतीजों को भी शिक्षा दी गयी थी।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु का अन्यान्य पुत्रों की अपेक्षा अपने छोटे पुत्र प्रह्लाद पर अधिक प्रेम था। उसकी बड़ी इच्छा थी, कि प्रह्लाद को स्वयं महर्षि शुक्राचार्यजी शिक्षा दें। किन्तु प्रह्लाद के उपनयन का समय आ गया, और महर्षि शुक्राचार्य, जो तीर्थाटन के लिये वर्षों पूर्व गये हुए थे, लौट कर नहीं आये। उपनयन के समय में अतिकाल होते देख, दैत्यराज ने आचार्य-पुत्रों को ही बुलवाया। आचार्य-पुत्रों के आने पर उसने उनके आगे अपना आन्तरिक अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा कि—'आचार्यचरण अब तक नहीं आये। हम उन्हींके द्वारा प्रह्लाद को शिक्षा दिलाना चाहते थे। परन्तु उपनयन-संस्कार का समय हो चुका है और समय पर संस्कार करना ही उचित है। अतएव जब तक आचार्यचरण न आ जायँ, तब तक आप लोग ही इस बालक की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करें।'

आचार्यपुत्र–'राजराजेश्वर ! आपके विचार उत्तम हैं, जैसी शिक्षा आप चाहते हैं वैसी ही शिक्षा दी जायगी। पिताजी के आने पर हम लोग उनके आगे आपकी इच्छा प्रकट कर देंगे और वे स्वयं राजकुमार को समुचित शिक्षा देंगे।'

दैत्यराज–'हे आचार्यपुत्रो ! हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि, आप लोग किसी विद्या में कम हैं। आप लोग हमारे असुरों के राजवंशों की सभा के रत्न हैं और अपने पितृ-चरण की कृपा से सर्व-विद्यासम्पन्न हैं; किन्तु हमारे कुल की रीति-नीति का यथार्थ अनुभव जैसा आचार्यचरण को है, वैसा कदाचित् आप लोगों को अभी न हो। हमारे साथ देवताओं का वैरभाव, हमारा-विष्णु का वैमनस्य, हमारे हृदय में सदा कसकनेवाली भ्रातृ-बधकी वेदना तथा उसके बदला लेने का दृढ़ विचार आदि को आचार्यचरण जितना जानते हैं सम्भव है आप उतना न जानते हों। अतएव हम आप लोगों से शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ अपना अभिप्राय भी बतला दें तो आप अनुचित न मानेंगे। प्रह्लाद अभी अबोध बालक है, किन्तु उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। उसके हृदय में स्वभावतः असुर-कुल-सुलभ स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध दया के भाव भरे हुए हैं, उसे साम्यवाद से प्रेम है और उसके हृदय में राजकुमार होने का रत्ती भर भी अभिमान नहीं है। इन बातों से हमको भय होता है कि वह कदाचित् हमारे आन्तरिक भावों, अभिलाषाओं और प्रवृत्तियों का समर्थक न हो। अतएव आप लोग उसको ऐसी उत्तम शिक्षा दें कि जिससे वह हमारे ही विचारों का अनुगामी बन देवताओं और

उनके पक्षपाती विष्णु का कट्टर शत्रु बने और यदि हम अपने भाई का बदला न ले सकें—जो असम्भव है—तो यह बालक प्रह्लाद अपने चचा के घातक विष्णु और देवताओं से पूरा-पूरा बदला ले।'

आचार्यपुत्र—'दैत्यराज! आप विश्वास रक्खें, हमारी पाठशाला में यों ही सारे-के-सारे विद्यार्थी घोर विष्णुद्रोही तथा देवताओं के अकारण प्रबल शत्रु हैं और उनको हम लोग शिक्षा ही विष्णु एवं देवताओं के विरुद्ध भड़कानेवाली देते हैं। फिर राजकुमार को आपकी आज्ञा पाकर भी हम लोग क्यों न आपके इच्छानुसार शिक्षा देंगे? हम लोग अपनी पाठशाला में आरम्भ ही से यह शिक्षा देते हैं कि देवता हमारे देश के और जाति के शत्रु हैं। इन लोगों ने अपने स्वार्थों के लिये न जाने कितने यज्ञ-यागों के ढोंग रच रक्खे हैं। पर अब इनकी पोलें खुल गयी हैं अतः इनको कोई पूजता नहीं। इनकी पूजा करना, इनका आदर करना और दुनिया में इनका अस्तित्व रखना घोर पातक है और आत्मघात के समान है। इसी शिक्षा के प्रभाव से धीरे-धीरे सारे देश के नवयुवक घोर देव-विरोधी हो गये हैं।'

आचार्यपुत्रों की शिक्षानीति को सुन कर दैत्यराज बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि अब विलम्ब का समय नहीं है। राजकुमार के उपनयन-संस्कार का सुन्दर मुहूर्त विचारिये। '*शुभस्य शीघ्रम्*' इस नीति के अनुसार मुहूर्त भी शीघ्र विचारा गया और उपनयन-संस्कार की खासी तैयारी होने लगी। गुरुकुल-गमन तथा उपनयन-संस्कार का समय ज्यों-ज्यों समीप आने लगा, त्यों-ही-त्यों राजदरबार तथा अन्तःपुर में आनन्दमय माङ्गलिक उत्साह भी अधिक

दिखलायी देता था, बालक प्रह्लाद के हर्ष की तो कोई सीमा ही नहीं रही। वे नित्य ही प्रातःकाल उठ कर अपनी माता से पूछते और दिन गिनते थे कि अब हमारे उपनयन-संस्कार तथा विद्याध्ययन के लिये गुरुकुल-गमन के कितने दिन रह गये। धीरे-धीरे वह दिन आ गया, जिस दिन से उपनयन-संस्कार के कृत्य आरम्भ होने को थे।

यज्ञोपवीत-संस्कार के उपलक्ष में सारे नगर में विशेषकर राजमहलों में चारों ओर माङ्गलिक उपकरणों से स्थान सजाये जाने लगे और भाँति-भाँति के बाजे बजने तथा गीत गाये जाने लगे। आचार्यपुत्र, पुरोहित और सभी योग्य विद्वज्जन बुलाये गये। चारों ओर से राजपरिकर तथा असुरवृन्द एकत्र होने लगे और देखते-ही-देखते एक सुन्दर समारोह हो गया। यज्ञोपवीत-संस्कार के लिये यज्ञशाला की रचना की गयी और यथाविधि उपनयन-संस्कार कराया गया। आचार्यपुत्रों ने राजकुमार को दीक्षा दी। जिस समय प्रह्लाद का उपनयन-संस्कार हो रहा था और उन्होंने माता को सम्बोधित कर कहा कि—'*भवति मातर्भिक्षां देहि*' उस समय का दृश्य न तो लेखनी से लिखा जा सकता है, और न मुख से वर्णन करने योग्य ही है। उस दृश्य का अनुभव वे ही कर सकते हैं, जो तीनों लोक और चौदहों भुवन के स्वामी सम्राट् हिरण्यकशिपु-जैसे प्रबल प्रतापी राजराजेश्वर के प्राणाधिक प्रिय पुत्र को शास्त्रविधि की मर्यादा के पालनार्थ, अपनी जननी से भिक्षा माँगते हुए देख चुके हैं।

यथाविधि उपनयन-संस्कार होते ही सद्यः उपनीत ब्रह्मचारी राजकुमार के गुरुकुल जाने का आयोजन होने लगा। यद्यपि गुरुकुल का स्थान राजधानी एवं राजमहल से अधिक दूर नहीं था और न घने वन ही में था तथापि जिस प्राणाधिक प्रिय पुत्र को एक क्षण भी न देखने पर माता घबड़ा जाती थी, उसके गुरुकुल जाने का समाचार पाकर महारानी कयाधू विकल-सी हो उठीं और उनके नेत्रों से जल की धारा-सी बहने लगी। इधर प्रह्लाद ने भी माता का साथ दिया और मातृवियोग का अनुभव कर वह भी घबड़ा गये तथा रो पड़े। लोगों के समझाने-बुझाने पर तथा पुत्र की शिक्षा के लाभों की बात विचार कर महारानी ने धीरज धारण किया और अपने आँसुओं को पोंछ कर प्रह्लाद के आँसुओं को पोंछती हुई उनको गोद में बैठा लिया। गोद में बैठा कर महारानी ने कहा—'बेटा! तुम रोने क्यों लगे? अभी तो नित्य ही तुम आज के दिन को गिनते थे। जब यह शुभ एवं सुन्दर दिन आ गया है, तब रोते क्यों हो? तुम आचार्यजी के यहाँ विद्या पढ़ने जाओगे और वहाँ से बड़े भारी विद्वान् तथा योद्धा बन कर लौटोगे—यह कितने आनन्द की बात है? जब कभी तुम्हारा जी ऊबे तब अपने गुरुजी से कहना वे तुमको यहाँ ले आया करेंगे और सबसे मिला दिया करेंगे। बेटा! तुम्हारा गुरुकुल दूर नहीं। इसी नगर के बाहर एक सुन्दर उपवन में है। कितने ही बार मैं तुम्हारे पिताजी के साथ आचार्यचरण के दर्शनों को उस स्थान में हो आयी हूँ और भली भाँति उसे देखा-भाला है। यदि तुम्हारे आने में कभी विलम्ब हो तो

मैं तुम्हारे पिताजी के साथ स्वयं वहाँ आऊँगी और तुम्हारे इस मुखारविन्द को चूमूँगी।' इतना कहती हुई माता ने प्रह्लाद का मुख चूम लिया और वे भी खिलखिला कर हँस पड़े। प्रह्लाद ने कहा कि 'माताजी! मैं तो पढ़ने जाता हूँ, तुम जरूर आना, देखो, भूल न जाना। तुमको अपने घर के कामों से अवकाश बहुत कम मिलता है।'

पुत्र और माता के बीच ये बातें हो ही रही थीं कि, इसी बीच में दैत्यराज के दूत ने आकर और हाथ जोड़ प्रार्थना की कि 'महारानी को राजकुमार के सहित महाराज बुला रहे हैं और महाराज ने यह भी कहा है कि, गुरुकुल-यात्रा का मुहूर्त-काल उपस्थित है, शीघ्र आवें।' दूत की बातें सुन एक बार फिर महारानी कयाधू के हृदय में प्रबल पुत्र-वात्सल्य की लहरें हिलोरें मारने लगीं किन्तु पुत्र की ओर देख उन्होंने दूत को उत्तर दिया—'अच्छा हम लोग शीघ्र ही वहाँ पहुँचते हैं।' उधर दूत राज-दरबार की ओर गया और इधर माता कयाधू ने प्रह्लाद को कुछ भोजन कराया और उसको आगे करके वह पुत्र के साथ पीछे-पीछे राजदरबार की ओर चलीं। आगे-आगे ब्रह्मचारी के वेष में राजकुमार प्रह्लाद चल रहे थे और पीछे-पीछे अपने राजसी ठाट-बाट के साथ महारानी कयाधू जा रही थीं। धीरे-धीरे महारानी और राजकुमार दोनों ही राजसभा में जा पहुँचे। महारानी को देखते ही सारी सभा ने अभ्युत्थानपूर्वक उनका स्वागत किया और दोनों ही माता और पुत्र, यथोचित अभिवादन के अनन्तर निर्दिष्ट स्थानों पर जा

विराजे। दैत्यराज ने प्रह्लाद को अपने पास बुला गोदी में बैठा लिया और सिर सूँघ कर हृदय से लगा लिया। हिरण्यकशिपु का हृदय भी पुत्रवात्सल्य से द्रवीभूत हो उठा और गुरुकुल की यात्रा का स्मरण कर उसका भी जी भर आया। फिर भी वह वीर पुरुष का हृदय था। अतः उसने सँभल कर कहा कि 'बेटा प्रह्लाद ! तुम्हारे गुरुकुल जाने का समय आ गया। देखो, ये हमारे दोनों आचार्यपुत्र ही तुमको अपने आश्रम में शिक्षा देंगे। ये तुम्हारे गुरु हैं। इनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना और ध्यान रखना कि, ये तुम्हारे लिये, हमारे ही समान पूज्य और आदरणीय हैं। तुम्हारे लिये ये संसार-सागर के पार करनेवाले कर्णधार हैं और जब तक तुम शिक्षा प्राप्त करके समावर्तन-संस्कार के द्वारा इस राजमहल में नहीं आओगे, तब तक के लिये, ये तुम्हारे शिक्षक ही नहीं, सर्वथा रक्षक भी रहेंगे। देखना बेटा ! खूब रुचि और परिश्रम के साथ शिक्षा ग्रहण करना।'

पिता की बातें सुन प्रह्लाद ने सिर के इशारे से तथा मधुर स्वर से कहा 'बहुत अच्छा।' गुरुवरों की आज्ञा से प्रह्लाद ने उठ कर माता के चरण छुए, पिता को प्रणाम किया तथा उपस्थित राजसभा के लोगों को यथोचित अभिवादन किया। माता, पिता तथा अन्य सभी सगे-सम्बन्धी और सभासदों ने आनन्दाश्रुओं के साथ-साथ आशीर्वाद दे, राजकुमार प्रह्लाद को नहीं, ब्रह्मचारी प्रह्लाद को आचार्यपुत्रों के साथ गुरुकुल-वास के लिये विदा किया।



सोलहवाँ अध्याय

प्रह्लाद की प्रतिभा

स्वल्पकाल में ही ज्ञान-प्राप्ति



हाराज शुक्राचार्य के सुपुत्र षण्ड और अमर्क यद्यपि बड़े योग्य विद्वान् थे, शास्त्र में तथा लोक-व्यवहार में भी बड़े निपुण थे और दैत्यराज की राजसभा के वे राजपण्डित भी थे, तथापि उनकी बुद्धि क्रूर और उनका हृदय कठोर था। असुरों के संसर्ग, उनके अन्न-जल के प्रभाव और असुर बालकों को आसुरी शिक्षा देते-देते वे इतने निर्दय हो गये थे कि जो एक विद्वान् के लिये, शुक्राचार्य के पुत्रों के लिये तथा अध्यापक-जैसे पवित्र पद के लिये सर्वथा कलङ्क की बात थी।

एक ओर उग्र और क्रूर प्रकृति के अध्यापक थे, जो बात-बात में बालकों पर क्रोध कर बैठते थे; दूसरी ओर सात्त्विक बुद्धिसम्पन्न, कोमल और करुणहृदय प्रह्लाद, जो किसी भी प्राणी को पीड़ित देखना ही नहीं चाहते थे। गुरु-शिष्य में परस्पर यह बड़े भारी विरोध की बात थी। फिर भी ब्रह्मचारी प्रह्लाद ने अपने गुरुवरों की बड़ी शुश्रूषा की और उनके पढ़ाये पाठों को स्वल्प समय में हृदयङ्गम कर लिया और सहपाठी छात्रों के प्रति भी ऐसा प्रेममय

व्यवहार रक्खा कि, जिसके प्रभाव से उग्रचेता षण्ड और अमर्क, जो बालकों को यमराज के समान दिखलायी देते थे, ब्रह्मचारी प्रह्लाद के लिये विष्णुरूप शान्त एवं प्रसन्न दिखलायी देने लगे।

ब्रह्मचारी प्रह्लाद पर गुरुवर और विद्यालय के सभी प्रकृति के सभी छात्र तो प्रसन्न थे ही, पर उनपर सबसे अधिक प्रसन्न थीं—माता सरस्वती। थोड़े ही समय में प्रह्लाद अपनी अप्रतिम प्रतिभा के कारण पाठशाला में सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ छात्र समझे जाने लगे और गुरुवर उनके उदाहरण पर अन्यान्य असुर-कुमारों को उत्साहित कर, उन्हें आगे बढ़ने के लिये उत्तेजित करने लगे। राजराजेश्वर दैत्य हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद अपनी पाठशाला के छात्रों के हृदयेश्वर के समान बन बैठे और जिसके मुख से सुनिये, उसी के मुख से प्रह्लाद की प्रतिभा का ही गान सुनायी पड़ने लगा।

समय-समय पर प्रह्लाद अपने माता-पिता के चरण-दर्शन के लिये गुरुवरों के साथ राजधानी में जाते थे और उन्हीं के साथ-साथ लौट भी आते थे। मानों यह भी उनके हृदय की दयालुता थी। क्योंकि वे यह नहीं चाहते थे कि उनके अधिक दिनों के वियोग से जननी माता कयाधू और पिता दैत्यराज को किसी प्रकार की वेदना हो। प्रह्लाद का हृदय-मन्दिर भगवान् की दयामयी मूर्ति से शोभायमान था। वे कैसे किसी के हृदय को दुखाते और कैसे किसी की हार्दिक वेदना के कारण बनते? कभी-कभी जब कुछ समय तक ब्रह्मचारी प्रह्लाद अपने पाठानुरोध के कारण माता-

तो बालकों में मेरे शत्रु की प्रशंसा के भाव फैलाओगे और सारे देश में मेरे प्रति द्रोह पैदा करने की चेष्टा करोगे।'

आचार्यपुत्र—'हे दैत्येश्वर! हम लोगों ने आपके पुत्र को यह शिक्षा कभी नहीं दी। आप हम लोगों पर अकारण ही क्रोध कर रहे हैं। हमारी शिक्षा तो सदैव विष्णु-स्तुति के विपरीत ही होती है; हमारे छात्र की दशा में ब्रह्मचारी प्रह्लाद ने आपके सामने ही आपकी अवहेलना करके जो विष्णु की स्तुति की है इसके लिये हमको आन्तरिक खेद है और इस निमित्त से हम अपराधी भी हैं कि हमारी शिक्षा का इसके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ कर उससे ठीक विपरीत प्रभाव पड़ा। अतएव हम लोग अपने लिये क्षमा नहीं चाहते। आप जैसा उचित समझें, हम लोगों को दण्ड दें। हम लोग उसे सहर्ष स्वीकार करेंगे।'

अपने गुरुओं को पिता के कोपानल का अकारण शिकार होते देख और दोनों ओर की बातें सुन, ब्रह्मचारी प्रह्लाद कुछ बोलना ही चाहते थे कि उनका हृदय सहसा द्रवीभूत हो गया। इतने में दैत्यराज ने ही कहा 'हे पुत्र! तुम ही सत्य-सत्य कहो कि तुमको इस प्रकार की बुरी शिक्षा किसने दी है? तुम्हारे गुरु कहते हैं कि हम लोगों ने ऐसी शिक्षा कभी नहीं दी। क्या यह सत्य है? यदि सत्य है तो तुम निर्भय होकर बतलाओ कि तुमको किस आततायी ने इस प्रकार मेरे परम शत्रु की मेरे सामने ही स्तुति करने की शिक्षा दी है। बेटा! तुम जानते ही हो कि मैंने न जाने कितने ब्राह्मणों और विद्वानों

को केवल इसी अपराध के लिये कि, वे विष्णु-भक्त थे, विष्णु का नाम लेते थे और विष्णु की पूजा किया करते थे, प्राण-दण्ड दिया है। अतएव शीघ्र ही तुम मुझसे उसका नाम बतलाओ। मैं उसको अभी समुचित दण्ड देकर बतला दूँगा कि इस प्रकार का राजद्रोहपूर्ण अपराध कितना भयङ्कर होता है ?'

पिता की बातें सुन कर ब्रह्मचारी प्रह्लाद ने बड़े ही विनीत-भाव से हाथ जोड़ कर कहा—

'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥'
(विष्णु० १।१७।२०)

अर्थात् 'पिताजी ! शासन एवं उपदेश करनेवाले तो एकमात्र परमात्मा विष्णु ही हैं जो सारे जगत् में सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं, उनके सिवा दूसरा कौन किसको उपदेश देकर शासित कर सकता है ?'

हिरण्यकशिपु—'बेटा ! तू बड़ा मूर्ख प्रतीत होता है, जो मेरे ही सामने बारम्बार विष्णु का नाम लेता है। तीनों लोकों का तो मैं अधीश्वर हूँ मेरे सामने कौन दूसरा ईश्वर हो सकता है ?'

प्रह्लाद—'पिताजी ! जिस परमात्मा का परिचय शब्दों द्वारा नहीं दिया जा सकता, जो केवल योगियों के ध्यान में आता है तथा जिससे यह सारा विश्व उत्पन्न हुआ है और जो स्वयं विश्वरूप है, वही परमेश्वर मेरा विष्णु है।'

हिरण्यकशिपु—'रे मूर्ख प्रह्लाद ! मेरी उपस्थिति में कौन दूसरा परमेश्वर है ? तू बारम्बार जिसका नाम लेता है वह कहाँ है ? मालूम होता है कि तेरी मृत्यु समीप आ गयी है।'

पिता के कोप को बढ़ते देख, प्रह्लाद ने बड़ी धीरता और शान्ति के साथ कहा कि–

'न केवलं तात मम प्रजानां स ब्रह्मभूतो भवतश्च विष्णुः ।
धाता विधाता परमेश्वरश्च प्रसीद कोपं कुरुषे किमर्थम् ॥'
(विष्णु० १ । १७ । २४)

'हे तात ! आप क्रोध क्यों करते हैं ? वह विष्णु, केवल मेरे ही ईश्वर नहीं हैं प्रत्युत सारी प्रजा के एवं आपके भी वही ईश्वर हैं । इतना ही नहीं, सबका धारण करनेवाले धाता और सबको रचनेवाले विधाता भी वही हैं ।'

हिरण्यकशिपु–'न जाने इस दुर्बुद्धि बालक के हृदय में किसका प्रवेश हो गया है जो यह इस प्रकार के असाधुवाद कर रहा है और आवेश के साथ बक रहा है ।'

प्रह्लाद–'पिताजी ! जो विष्णु मेरे हृदय में प्रविष्ट हैं, वे केवल मेरे ही नहीं, वे ही सारे संसार के और आपके हृदय में भी प्रविष्ट हैं और वही सब कुछ कहलाते और कराते हैं ।'

प्रह्लाद को शान्त होते न देख कर पुत्र-प्रेम-वश, दैत्यराज ने क्रोध को शान्त करके कहा 'हे मन्त्रिगण ! इस दुष्ट बालक को यहाँ से जल्दी निकालो, इसको गुरुकुल में ले जाकर समझाओ । मालूम होता है किसी विपक्षी दल के व्यक्ति ने इसे हमारे शत्रु की स्तुति करना सिखला दिया है । इसका अधिक दोष नहीं है ।'

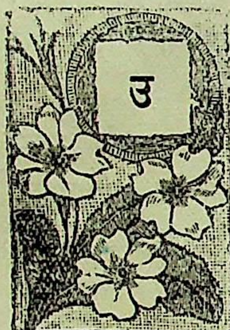
दैत्यराज की आज्ञा पाकर ब्रह्मचारी प्रह्लाद पुनः गुरुकुल पहुँचाये गये और वहाँ आचार्य लोग उनको भाँति-भाँति की नीति-शिक्षा देने लगे ।

सत्रहवाँ अध्याय

हिरण्यकशिपु का कड़ा शासन

देवताओं में घबड़ाहट

विष्णुभगवान द्वारा आश्वासन-प्रदान



धर प्रह्लाद पुनः गुरुकुल में अध्ययन करने लगे और इधर दैत्यराज कठोर शासन करने लगा। यों तो दैत्यराज हिरण्यकशिपु के हृदय से विष्णु का वैरभाव एक क्षण के लिये भी दूर नहीं होता था, किन्तु जबसे प्रह्लाद के मुख से उसने विष्णु की स्तुति सुनी तबसे तो मानों उसके वैराग्नि में घी की आहुति पड़ गयी। उसने अपने असुर अधिकारियों द्वारा सर्वत्र बड़े जोरों से उत्पात मचा दिया। देवताओं की तो जो दुरवस्था की सो की ही, उन मनुष्यों की भी नाक में दम कर दी, जिनपर नाममात्र को भी विष्णुपक्षी अथवा देवानुयायी होने का सन्देह हुआ। इस बात की खोज में असुरों को गुप्तरूप से नियुक्त किया गया कि, वे देखें, कहाँ कौन विष्णुभक्त अथवा देवताओं का पक्षपाती है? दैत्यराज को प्रह्लाद के वचनों से यह पूरा-पूरा विश्वास हो गया था कि, उसके विरुद्ध विष्णु-भक्ति के प्रचारकों का कोई दल है जो गुप्तरूप से लोगों में, यहाँ तक कि राजकुमारतक के मन में विष्णु-भक्ति उत्पन्न करने में

छाया हुआ है । इसी कारण उसने ऐसे षड्यन्त्रकारी दल की खोज के लिये असुरों को गुप्त दूत के रूप में नियुक्त कर उनको कड़ी आज्ञा दी कि 'यदि वे असावधानी करेंगे और संसार में एक भी विष्णुभक्त व्यक्ति रह जायगा तो उन लोगों का कुशल नहीं है ।'

असुर तो यों ही देवताओं और मनुष्यों के शत्रु होते हैं, फिर उनको दैत्यराज की खुली आज्ञा मिल गयी । उनको मानों अपने शत्रुओं पर अत्याचार करने और कराने का पूरा साधन मिल गया । वे निष्कारण ही देवताओं और मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर सताने लगे एवं व्यर्थ ही झूठी-झूठी बातें बना लोगों को विष्णु-भक्त अथवा दैत्य-शत्रु कह-कह कर दैत्यराज के कोप-वह्नि का ईंधन बनाने लगे । नित्य ही न जाने कितने ब्राह्मण मारे जाते, फाँसी पाते और उनकी सारी सम्पत्तियाँ अपहृत (जब्त) कर ली जातीं । विचाराधीन अपराधियों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ते देख, मदमत्त दैत्यराज भी बिना कुछ सुने सुनाये ही लोगों को राजविद्रोही ठहरा प्राणदण्ड देने लगा । इस प्रकार चारों ओर हाहाकार मच गया । लोग खुल के रोने भी न पाते थे । सब लोग ओठों के भीतर-ही-भीतर त्राहि भगवन् ! त्राहि भगवन् ! का जप रात-दिन जपने लगे !

देवताओं ने घबड़ा कर अपनी विपदा सुनाने के लिये अपने आचार्य गुरुजी को बुलाया । उनको सारी कहानी सुनाने के

पश्चात् देवताओं ने उनसे यह भी प्रार्थना की कि 'यदि शीघ्र ही इस दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वध का उपाय आप नहीं ढूँढ़ निकालेंगे तो हम लोगों का अन्त ही समझिये। हम लोग ढूँढ़-ढूँढ़ कर सताये और मारे जा रहे हैं। हमारी जीविकाएँ अर्थात् यज्ञादि बन्द कर दिये गये हैं और हम लोगों के सारे-के-सारे पद और अधिकार दैत्यराज ने बलात्कार से छीन लिये हैं। हम लोगों की अर्चा-पूजा करनेवाला प्रथम तो कोई रहा ही नहीं, फिर यदि कोई दुबा-छिपा हुआ है भी, तो उसको रात-दिन यही चिन्ता लगी रहती है कि 'अब गये, अब गये।' ऐसी दशा में विरले ही दृढ़ मनुष्य होंगे जो *'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'* पर दृढ़ रह कर काम करते हों। सारांश यह कि, अब हम लोग सब प्रकार से अपमानित और पीड़ित हो चुके हैं। यदि हम लोगों के उद्धार का कोई उपाय नहीं हो सकता हो तो, फिर जीवन की अपेक्षा दैत्यराज के क्रोधरूपी अग्नि में हम लोगों को अपनी आहुति ही दे देनी चाहिए।'

देवताओं की करुण-कथा सुन कर बुद्धिमान् बृहस्पतिजी ने बड़े ही शान्तभाव से सान्त्वना देते हुए कहा कि--हे देवताओ! अपने पद को पुनः पाने तथा अपने साम्प्रतिक कष्टों के निवारण के सम्बन्ध में अधीर मत होओ। काल बड़ा बलवान् है, तुम लोगों को धैर्य धारण करना चाहिए और इस बात का विश्वास रखना चाहिए कि, जब तुम्हारा वह सर्वाधिपत्य सुख नहीं रहा,

तब यह दैत्यों की दासता का दुःख भी न रहेगा। सुख-दुःख तो रथ के चक्र के आरे के समान आते-जाते रहते हैं। इनका घूमना कभी बन्द नहीं हो सकता। जो इस कालचक्र की गति को जानते हैं और धीरज धारण कर अपने दुःखों को सह लेते हैं वे पुनः सुख प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। संसार का यह साधारण नियम है कि जब दुःख होता है तब लोग करुणावरुणालय केशव का स्मरण करते और दीनानाथ के शरण जाते हैं, उनके हृदय दुःखी होने से शान्त, दयालु और सहिष्णु हो जाते हैं। अतएव दीनबन्धु भगवान् उनकी प्रार्थना सुनते और उनके दुःखों को दूर करते हैं। इसी प्रकार जब अधिकार प्राप्त होता है और संसार के सारे सुख अपने चेरे बने हुए-से दिखलायी पड़ने लगते हैं, तब लोग अभिमानी हो जाते हैं, वे अभिमान के वशीभूत हो दीन-दुखियों को अपना विपक्षी मान सताने लगते हैं तथा मदोन्मत्त हो भगवान् के स्वरूप इस जगत् को अपनी इच्छानुसार प्रकृति-विरुद्ध चलाने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं तथा अपने नियन्ता परमात्मा को भूल जाते हैं। ऐसी दशा में भगवान् उनके उद्धार के लिये तथा अपने सांसारिक नियमों की रक्षा के लिये भी उनको दण्ड देते हैं, क्योंकि अभिमान भगवान् का आहार है इसीलिये वे उनके ऐश्वर्य का नाश करते, उनके परिजनों का संहार करते और अन्ततोगत्वा न सुधरते देख, उनका भी बध करके उद्धार करते हैं। अतएव घबड़ाने की कोई बात नहीं। अब दैत्यराज के

अभिमान की सीमा नहीं रही। उसके अत्याचार की इति हो गयी है, वह शीघ्र ही अपने अत्याचारों और अभिमान का शिकार होगा। आप लोग कुछ दिनों तक और धैर्य धारण करें।'

देवतागण—'आचार्यजी महाराज! हम लोगों को तो दिनोंदिन उसकी शक्ति बढ़ती ही दिखलायी देती है। हमारे दुःख का भी कभी अन्त होगा, इसपर हमें विश्वास ही नहीं होता। फिर उसके वरदान का बल सुन कर तथा अन्य कोई बुरे लक्षण दिखलायी न देने से, हम लोग अधीर हो रहे हैं।'

देवगुरु बृहस्पति—'हे देवगग! यही समय तो धैर्य धारण करने का है। जो मनुष्य विपत्ति में धैर्य धारण करते हैं वे अपने अपार दुःख-सागर से अनायास ही तर जाते हैं। इस समय आप दुःखी हैं, अतएव आप लोगों को दैत्यराज के बुरे लक्षण दिखलायी नहीं देते। हमारी समझ से इस समय उसके बड़े बुरे लक्षण हैं। उसका अन्त-समय समीप आ गया है और आप लोगों के अच्छे दिन अब दूर नहीं हैं। देवगण! दैत्यराज हिरण्यकशिपु अब प्रायः क्षीणभाग्य हो गया है, क्योंकि उसके हृदय में शोकरूपी शत्रु ने अधिकार जमा लिया है। शोकरूपी शत्रु ऐसा प्रबल होता है कि, उसपर विजय पाना तो दूर रहा उससे पिण्ड छुड़ाना भी यदि असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। शोक बुद्धि को नाश कर देता है और पढ़े-लिखे लोगों के वेद-शास्त्र आदि के ज्ञान को भी भुला

देता है। शोक सभी प्रकार से मतिमानों की मति को नाश करता है। शोक बड़ा ही प्रबल है। इसके आक्रमण को सहन करने की शक्ति प्रायः किसी में नहीं है। दारुण शस्त्रास्त्रों के आघात को मनुष्य सहन कर सकता है, अग्नि की उष्णता को सह सकता है किन्तु शोकरूपी दावानल को मनुष्य सहन नहीं कर सकता। शोक को काल का सन्देशा समझना चाहिए, जिसको शोकरूपी शत्रु ने आ घेरा, समझना चाहिए कि उसकी मृत्यु समीप आ गयी है। इसी कारण हम लोग यह अनुमान करते हैं कि, हिरण्यकशिपु के मृत्यु के दिन समीप आ गये हैं। क्योंकि उसको शोकरूपी प्रबल शत्रु ने आ घेरा है। इतना ही नहीं, आजकल जो दिव्य, आन्तरिक्ष और भौतिक शकुन हो रहे हैं वे भी यही सूचित करते हैं कि दैत्यों के आधिपत्य का विनाश होनेवाला है और धर्मप्राण देवताओं का पुनः आधिपत्य स्थापित होनेवाला है। यही बात पण्डितलोग भी कहते हैं कि अब दैत्यराज के अत्याचारी शासन के दिन समाप्त हो चले हैं। शीघ्र ही देवता अपने अधिकारों को प्राप्त करेंगे।'

देवगण—'आचार्यचरण ! आपके अमृततुल्य वचनों से हम लोगों को बड़ी शान्ति मिली है और आशा भी हो रही है कि हमारे दुःख मिटेंगे, किन्तु आपने दैत्यराज के शोक की जो बात कही, वह हम लोगों के समझ में नहीं आयी। उसको शोक किस बात का हो सकता है ? उसके विरोधी बड़े-से-बड़े देवता और दिक्पाल या तो कारागार की दारुण यातनाएँ भोग रहे हैं या उसी की

दासता में अपना नारकीय जीवन बिता रहे हैं। जो उग्र विचार के लोग उसके विरोधी थे, वे या तो फाँसी पर लटका दिये गये हैं या कन्दराओं में छिपे हुए अपने मृत्यु के दिन गिन रहे हैं। सारे संसार में उसी का एकाधिपत्य है। सब ओर उसके विजय का डंका बज रहा है। उसका न तो कोई ऐसा शत्रु है जिससे उसको भय हो और न आजकल उसका शत्रु बनना ही सरल काम है। ऐसी दशा में उसको किस बात का शोक होगा यह हमारी समझ में नहीं आया। इस समय उसको दूध-पूत दोनों ही प्रकार के सुख प्राप्त हैं। उसको कष्ट है ही किस बात का? कृपया इसका रहस्य हम लोगों को समझाइये।'

बृहस्पति—'देवतागण! आपलोग उसके आन्तरिक दुःख को नहीं जानते। उसके शोक को आप नहीं पहचानते यह आश्चर्य की बात है। जबसे उसके भाई हिरण्याक्ष को वाराह-भगवान् ने मारा है तभी से वह शोकानल में जल रहा है और उसी शोक के आवेश में उसने विष्णुभगवान् से और उनके भक्तों से शत्रुता ठानी है। अभी हाल में एक नयी घटना और हुई है, उसके छोटे पुत्र प्रह्लाद ने 'विष्णु-भक्ति' की दुन्दुभी बजायी और उसकी राजसभा में उसी के सामने जाकर विष्णु की स्तुति की, उनकी ईश्वरता सिद्ध की और दैत्यराज की ईश्वरता को तृण के समान भी न समझा। इस कारण अब उसके अपने ही अङ्ग में रोग लग गया है जिसके शोक से वह व्याकुल हो रहा है और रात-दिन उसको यह चिन्ता घेरे रहती है कि, प्रह्लाद की

बुद्धि कैसे पलटे ? प्रह्लाद की बुद्धि पलटनेवाली नहीं, अतएव उसका शोक भी घटनेवाला नहीं। जब घर ही में वैरी है तब दैत्यवंश के नष्ट होने में और उनके आधिपत्य के अन्त होने में क्या सन्देह है ? इस बात को दैत्यराज हिरण्यकशिपु भली भाँति जानता है। इसीलिये उसको शोक है और बहुत बड़ा शोक है। हे देवगण ! अवसर सदा नहीं मिलता और अवसर पर काम न करना आयी हुई सफलता का अपने आप तिरस्कार करना है। इस समय दैत्यराज शोकाकुल है। शोक के आवेश में वह ऐसे घोर अत्याचार कर रहा है जिनको देख कर दयानिधान भगवान् लक्ष्मीनारायण का भी आसन डोल गया होगा। अतएव इसी समय यदि तुम लोग भगवान् के शरण जाकर उन्हें अपनी विपदा सुनाओगे, तो वे तुरन्त दैत्यराज के विनाश का उपाय करेंगे। तुम लोग जैसे ही जाओगे वैसे ही वे प्रसन्न होकर तुम्हारा कार्य साधेंगे, इसमें सन्देह नहीं।'

देवताओं ने गुरुवर बृहस्पतिजी के आदेशानुसार शीघ्र ही जाकर विष्णुभगवान् से अपनी विपदा सुनाने का आयोजन किया। यात्रा की सुन्दर तिथि में सविधि पुण्याहवाचन और स्वस्तिवाचन करा कर देवताओं ने यात्रा की और शिफारिस के लिये देवदेव भगवान् शङ्कर को भी साथ लेकर आगे कर लिया। सब क्षीरसागर के उत्तर किनारे पर जा पहुँचे तथा स्तुति करने लगे।

स्तुति

विष्णु जिष्णु विभु देव मखेशा । यज्ञपाल प्रभु विष्णु सुरेशा ॥
लोकात्मा ग्रसिष्णु जन-पालक । कीजै कृपा शत्रु-कुल-घालक ॥
केशव कल्प केशिहा स्वामी । सब कारण-कारण खग-गामी ॥
कर्मकारि वामता अधीशा । वासुदेव पुरु-संस्तुत ईशा ॥
माधव मधुसूदन वाराहा । आदिकर्तृ नारायण काहा ॥
नर अरु हंस हुताशन नामा । विष्णुसेन सब पूरण कामा ॥
ज्योतिष्मन् द्युतिमन् श्रीमाना । आयुष्मन् पुरुषोत्तम भाना ॥
कमलनयन वैकुण्ठ सुरार्चित । कृष्ण सूर्य भव भव-भय-भर्जित ॥
नरहरि महाभीम नख आयुध । वज्रदंष्ट्र जगकर्ता वरबुध ॥
आदिदेव यज्ञेश मुरारी । गरुड़ध्वज पावन असुरारी ॥
गोपति गोप्ता भूपति गोविंद । भुवनेश्वर कंजनाभ नमित इंद ॥
हृषीकेश दामोदर विभु हरि । पालहु सदा कृपा अपनी करि ॥
वामन दुष्टदमन ब्रह्मेशा । गोपीश्वर गोविन्द रमेशा ॥
प्रीतिवर्द्ध त्रैविक्रम देवा । करैं त्रिलोकप तुम्हरी सेवा ॥
भक्तिप्रिय अच्युत शुचि व्यासा । सत्य सत्यकीरति भव-वासा ॥
ध्रुव कारुण्य पापहर कारुण । शान्ति-विवर्धन पूजित सारुण ॥
संन्यासी वदरी बनवासी । शान्त तपस्वी शास्त्र-प्रकाशी ॥
मन्दरगिरि केतन चपलाप्रभ । करहु कृपा हमपर श्रीवल्लभ ॥
भूतनिकेतन रमानिवासा । गुहावास श्रीपति भयनासा ॥
तपोवास दमवास सनातन । सत्यवास मम हरहु दुरितगन ॥
पुरुष पुण्य पुष्कल कमलेक्षण । पूर्ण महेश्वर पूर्ति विचक्षण ॥

पुण्य विवर्द्धन विज्ञ पुराना । सब पुण्यज्ञ तुम्हें श्रुति भाना ॥
शंखी चक्री गदी हवीशा । मुशली हारी ध्वजी कवीशा ॥
शार्ङ्गी कवची लाङ्गलधारी । मुकुटी कुण्डलि मेखलि भारी ॥
जेता जिष्णु महावीरेशा । शान्त शत्रुतापन देवेशा ॥
शान्तिकरण शत्रुघ्न सुशास्ता । शंकर संतनुनुत विख्याता ॥
साराथि सात्त्विक स्वामी प्रियतम । सामवेद सावन समृद्धिसम ॥
सम्पूर्णांश साहसी बलकर । रमानिवास हरहु सुरवर-दर ॥
स्वर्गद कामद कीर्तिद श्रीप्रद । मोक्षद कीर्ति विनाशन गतमद ॥
पुण्डरीक लोचन भवमोचन । क्षीर जलाधिकृत केतन शोचन ॥
सुरासुर स्तुत ईशरु प्रेरक । पाप विनाशन शुभ गुण हेरक ॥
यज्ञ वषट्कृत तुम ओङ्कारा । तुम ही अग्नि विदित संसारा ॥
स्वाहा स्वधा देव पुरुषोत्तम । तुम हौ सब नाहि अपर महत्तम ॥
देवदेव शाश्वत भगवन्ता । विष्णु नमत तव चरण अनन्ता ॥
अप्रमेय नाहि अन्त तुम्हारा । यासों प्रणमत देव उदारा ॥
इतने नाम उदार बखानी । विनती कीन्ह महेश भवानी ॥

देवताओं की ओर से शङ्करजी द्वारा गायी हुई स्तुति को सुन कर, भगवान् विष्णु प्रकट हुए और बड़ी प्रसन्नता के साथ सभी देवताओं का विशेषकर भगवान् शङ्कर तथा महारानी जगदम्बा पार्वती का स्वागत और यथोचित अभिवादन करते हुए बोले—'हे देवगण ! तुम लोगों की ओर से भगवान् देवादिदेव महादेवजी ने हमारे इन सौ नामों के द्वारा हमारी जो अपूर्व स्तुति की है, इससे हम अत्यन्त प्रसन्न हैं । तुम लोग क्या चाहते हो, बतलाओ, हम तुम्हारा काम करने के लिये तैयार हैं ।'

देवगण—'नाथ ! आप तो अन्तर्यामी हैं, हमारे सभी अर्थों को भली भाँति जानते हैं। हे हृषीकेश ! हे पुण्डरीकाक्ष ! हे माधव ! आप सब जानते हैं। आपसे हम अपना कार्य क्या बतलावें ?'

भगवान् विष्णु-'अच्छा, देवगण ! यदि आप स्वयं कुछ कहना नहीं चाहते तो आप लोग जाइये। हम आप लोगों के अभिप्राय के अनुसार आपके शत्रु हिरण्यकशिपु का शीघ्र ही बध करेंगे और साथ ही हम यह भी कहते हैं कि, भगवान् शङ्कर-कृत इस सौ नामवाली स्तुति को जो करेगा, उसका मनोरथ सिद्ध होगा। किन्तु हे देवगण ! धैर्य धारण करो। अभी आपके कार्य के पूर्ण होने में कुछ विलम्ब है। अभी आप लोग कुछ काल तक इन कष्टों को सहन करें। शीघ्र ही उसका नाश होगा। हिरण्यकशिपु के छोटे पुत्र का नाम प्रह्लाद है, वह हमारा परम भक्त है, उसको हिरण्यकशिपु हमारी भक्ति करने से बरजने लगा है, किन्तु वह माननेवाला नहीं। वह न मानेगा तो दैत्यराज उससे द्रोह करेगा, उसको विविध प्रकार से मारने की चेष्टा करेगा और सतावेगा। जब प्रह्लाद को वह अधिक सतावेगा, तब हम नृसिंह-रूप धारण कर, उसको मारेंगे और तभी सारे दैत्यों का अत्याचार मिटेगा। अतएव अब इस समय हे देवादिदेव महादेव ! आप अपने देवताओं को साथ ले अपने स्थान को पधारिये।'

भगवान् विष्णु के वचनों से भगवान् शङ्कर देवताओं सहित बड़े ही प्रसन्न हुए और अपना मनोरथ सफल समझ, सब देवताओं ने अपने-अपने स्थान के लिये प्रस्थान किया।



अठारहवाँ अध्याय

प्रह्लाद का पुनः गुरुकुलवास

आचार्य का कठोर शासन



ह्लादजी गुरुकुल में इस बार बड़ी निगरानी के साथ रक्खे गये। उनके आचार्य साम, दाम और भेद की नीति से उनको अपने वश में करने की चेष्टा करने लगे। बीच-बीच में दण्ड का भी भय दिखलाने लगे। जो प्रह्लाद संसार में किसी भी प्राणी के चित्त को किसी प्रकार से भी दुखाना नहीं चाहते थे, वे भला अपने गुरुवरों के तथा अपने जन्मदाता पिता के चित्त को दुखाना कैसे उचित समझते ? अतएव वे बारम्बार इस बात की चेष्टा करने लगे कि, मेरी हरिभक्ति का दुःख गुरुओं को तथा पिताजी को न होने पावे। इसी अभिप्राय से वे गुरु के सम्मुख न करके उनके परोक्ष में हरिभजन तथा उनका ध्यान करने लगे, किन्तु कभी-कभी उनके हृदय की भक्ति इतनी बढ़ जाती थी कि, वे उसे सँभाल न सकते, इससे वे सहसा गुरुवरों के सामने भी भगवान् के प्रेम में मग्न हो जाते और ज़ोर-ज़ोर से हरिकीर्तन करने लगते थे। प्रह्लाद के साथ ही न जाने कितने और भी बालक उन्हीं के स्वर में स्वर मिला कर गाने लगते कि—

माता पिता गुरुरशेषकुलानुयायी
स्वेष्टामरः सुहृदभीष्टपदार्थदायी ।
नान्योऽस्ति नाथ भवतः क्वचिदेव कश्चित्
तच्छ्रीनिवास कृपया क्षमतां ममैनः ॥

(श्रीकामदः)

अर्थात् हे मेरे नाथ भगवान् श्रीनिवास ! कृपा करके मेरे अपराध को क्षमा कीजिए । क्योंकि आपके अतिरिक्त संसार में माता, पिता, गुरु, कुल के असंख्य लोग, हमारे इष्टदेव एवं मित्रगण कोई भी हमारे मनोरथरूपी मुक्तिपद के देनेवाले नहीं हैं ।

इतना ही नहीं, वे बालकों को सर्वदा भगवद्भक्ति की शिक्षा देने लगे और न जाने उनके कितने सहपाठी असुर-बालक उनके अनुयायी होने लगे । धीरे-धीरे विद्यालय में उनके अनुयायी छात्रों की संख्या बहुत बढ़ गयी । विरोधियों की संख्या का ह्रास हो गया । जो छात्र उनके विरोधी थे, उन लोगों ने एक दिन गुरुजी को प्रह्लादजी के इस गुप्त चरित्र का हाल बतलाया । षण्ड और अमर्क प्रह्लाद के साथ ही अधिकांश विद्यार्थियों की हरिभक्ति की बातें सुन, आगबबूला हो गये । उनकी आँखें लाल हो गयीं तथा ओठ फड़कने लगे । आवेश में भर उन लोगों ने प्रह्लाद को अपने सामने बुलाया । प्रह्लादजी सामने आकर हाथ जोड़ खड़े हो गये । उन्होंने कहा—'आचार्यचरण ! क्या आज्ञा है ?'

आचार्य—'प्रह्लाद ! हमने तुम्हारी शिकायत सुनी है । क्या यह सत्य है कि तुम स्वयं हरिभक्ति और हरिकीर्तन किया करते हो

तथा अपने अन्यान्य सहपाठियों को भी हरिभक्ति का उपदेश दे उनसे हरिकीर्तन कराते हो ? क्या तुम अपने पिता दैत्यराज का आदेश भूल गये ? क्या तुम जान-बूझ कर मृत्यु के मुख में पैर रखते हो ?'

प्रह्लाद–'गुरुजी महाराज ! आपने जो कुछ सुना है, चाहे उसे आप मेरी शिकायत समझें और चाहे प्रशंसा, किन्तु है सर्वथा सत्य । जिन मेरे भाइयों ने मेरे छिपे हुए आन्तरिक भावों को आप तक पहुँचाने की चेष्टा की है उनका मैं बड़ा ही अनुगृहीत हूँ । क्योंकि 'गुरु से कपट' करना घोर पाप है । आपका चित्त दुखी न हो, इसलिये हम लोग आपकी अनुपस्थिति में ही सदैव हरिकीर्तन और हरि का ध्यान किया करते हैं ।'

आचार्य–'रे दुष्ट राजकुमार ! तू क्या करने पर उतारू है ? अपने पिता के वचनों की अवहेलना करके संसार में तू क्या जीवित रह सकता है ? गुरु की अवज्ञा का पाप क्या तुझे नहीं मालूम ? बड़ा ज्ञानी और धर्मात्मा बनता है, किन्तु यह किस धर्मशास्त्र में लिखा है कि पिता और गुरुजनों की आज्ञा की अवहेलना करना धर्म है ? अपने पिता के स्वभावको तू भली भाँति जानता है । जिस समय उनको यह विदित होगा कि केवल तू ही नहीं, न जाने कितने तेरे सहपाठी इसी पाठशाला के छात्र भी हरिभक्ति और हरिकीर्तन कर घोरतर राजद्रोही बन रहे हैं; उस समय हम लोगों की क्या गति होगी ? क्या हम लोग उसी समय शूली पर न चढ़ा दिये जायँगे अथवा फाँसी पर न लटका दिये जायँगे ? क्या इतने

दिनों तक हम लोगों से विद्याध्ययन करके तू हम लोगों को अपने पिताजी से प्राणदण्डरूपी गुरुदक्षिणा दिला कर ही प्रसन्न होगा ? और इसी से संसार में तेरी सुकीर्ति होगी और परलोक में तेरे 'हरि' तुझे मोक्ष देंगे ? क्या तूने गुरु-शिष्य-सम्बन्ध को ध्यानपूर्वक कभी पढ़ा है ?'

प्रह्लाद–'आचार्यचरण ! आप लोग मेरे अपराधों को क्षमा करें। आपको घबड़ाना नहीं चाहिए। शान्ति के साथ मेरी बातों को सुन कर, ईश्वर पर भी कुछ विश्वास रखना चाहिए। मैं आपको सिखलानेवाला नहीं, नम्रतापूर्वक आपसे प्रार्थना करनेवाला हूँ। भगवन् ! आप न तो अपने प्राणों का भय करें और न मेरे एवं मेरे सहपाठियों के प्राणों का ही भय रक्खें। आप भी उन परमपिता भगवान् विष्णु की भक्ति करें। उनको हृदयमन्दिर में स्थान दें। फिर देखें आपका कौन बाल बाँका कर सकता है ? विष्णु संसार के आश्रयस्थल हैं, जगद्बन्धु हैं। वे सभी के प्राणों के रक्षक हैं, किसी के प्राण का नाश नहीं करते। वे सर्वथा प्रेममय हैं और इसी कारण सबमें अभेदभाव रखते तथा सबकी रक्षा करते हैं। उनका स्नेह सबपर समान रहता है। इस बात को सभी ज्ञानी लोग जानते हैं और इसीसे उनसे प्रेम रखते हैं। हाँ, मूढ़ लोग इस रहस्य को नहीं जानते। अतएव उनसे द्वेष करते हैं। आप लोग इस बात को निश्चय जानें और उनकी भक्ति करके निर्भय रहें। जो उनके भक्त हैं उनका एक नहीं, दस दैत्यराज भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते। गुरुवर ! क्या आप लोग उनकी महिमा से अनभिज्ञ हैं ? फिर आप लोग मुझको

अनजान बना कर क्यों बहकाते हैं ? क्या गुरुओं का धर्म यही है कि, यथार्थ ज्ञान को छिपावें और मिथ्या ज्ञान सिखावें ?'

आचार्य—'बेटा प्रह्लाद ! तुम जो कुछ कह रहे हो वह सत्य होने पर भी तुम उसके अधिकारी नहीं हो । विष्णुभक्ति और शिवभक्ति में जो भेदबुद्धि रखते हैं, उनकी मुक्ति नहीं होती । फिर तुम अपने पिता के आदेशानुसार भगवान् शिव को परब्रह्म के रूप में क्यों नहीं मानते और उनकी भक्ति करके पिता और परमपिता दोनों के अनन्यभक्त क्यों नहीं बन जाते ? तुम्हारा जन्म असुर-कुल में हुआ है । इस कुल में भगवान् शङ्कर की ही अनन्य उपासना होती है । तुम उनकी उपासना को छोड़ विष्णु की उपासना करके अपने कुल के विरुद्ध चलते हो । शास्त्र के आज्ञानुसार कुलाचार और देशाचार का पालन करना धर्म है, फिर तुम क्यों उसको छोड़ते हो ? तुमको यह भी जान लेना चाहिए कि—

हरे रुष्टे विधिस्त्राता विधौ रुष्टे हरिस्तथा ।
हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥

अर्थात् 'यदि भगवान् शङ्कर रूठ जायँ तो ब्रह्माजी रक्षा कर सकते हैं । यदि ब्रह्माजी रूठ जायँ तो भगवान् विष्णु रक्षा कर सकते हैं और यदि विष्णु रूठ जायँ तो गुरुजन रक्षा कर सकते हैं और यदि गुरुजन रूठ जायँ तो संसार में कोई रक्षा नहीं कर सकता । क्या फिर भी तुम हम लोगों की आज्ञा भङ्ग करके हमारे क्रोध के पात्र बनने में अपना कल्याण समझते हो ?'

प्रह्लाद–'भगवन् ! आप लोगों के उपदेश और आदेश हम सब बालक शिरोधार्य करने के लिये तैयार हैं; किन्तु जो विष्णु हम लोगों को सारे चराचर में दिखलायी देते हैं। वृक्षों के एक-एक पत्ते में और प्राणियों के रोम-रोम में विराजमान हैं। जो हम लोगों के प्रतिश्वास के साथ-साथ आते और जाते हैं, जिनके नाम और रूप का ही सारा संसार बना हुआ है, उन परमपिता परमात्मा को हम लोग भुलावें तो, किस उपाय से और किसलिये ? हृदयपटल पर जिस मनमोहन की मूर्ति एक बार खिंच चुकी है वह मिटे तो कैसे मिटे ? जब तक वह नहीं मिटती तब तक उसीकी सही, किसी दूसरी मूर्ति को बैठावें तो कहाँ बैठावें ? वहाँ तो स्थान ही नहीं है।* आचार्य-चरण ! आप मुझको हठी मानते हैं, मूर्ख मानते हैं और उच्छृङ्खल मानते हैं, किन्तु बात कुछ और ही है। मैं हठी, मूर्ख और उच्छृङ्खल नहीं। हाँ, परवश अवश्य हूँ और जैसे तीर जब धनुष से छूट कर निकल जाता है, तब उसे वापस बुलाना कठिन ही नहीं असम्भव

---

* भगवान् विष्णु और भगवान् शिव में कोई भेद नहीं है, परन्तु अनन्योपासना ऐसी ही होती है। रामचरितमानस में कथा है कि भगवान् शिव को प्राप्त करने के लिये कठोर तप करनेवाली पार्वती के परीक्षार्थ सप्तर्षियों ने भगवान् विष्णु के रूप-गुण की महिमा सुना कर प्रलोभित करना चाहा था, परन्तु पार्वती ने बड़ी ही दृढ़ता से उत्तर दिया–'महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुनधाम। जेहिकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम ॥' 'जनम-जनम लगि रगर हमारी। बरौं शंभु न तौ रहौं कुमारी ॥' यह इष्ट में अनन्यता के भाव हैं। यही भाव यहाँ प्रह्लादजी में समझने चाहिए।

है; वैसे ही मन भी जब अपने हाथ से निकल गया और भगवान् विष्णु के चरणारविन्द का मधुकर बन गया तब उसको लौटाना तथा उसे दूसरी ओर लगाना असम्भव है, कम-से-कम मेरी शक्ति के तो बाहर की बात है। अतएव अब आप लोग मेरे अपराधों को क्षमा करें और मुझे परतन्त्र जान मेरा पिण्ड छोड़ दें।'

आचार्य–'राजकुमार! तुमको यह भी तो समझना चाहिए कि तुमको दैत्यराज के सिंहासन का उत्तराधिकारी बनना है। विष्णुभक्त बन कर वैरागी नहीं बनना है। अभी तुम बालक हो, बालकपने में त्याग की मात्रा अधिक होती है। ज्यों-ज्यों संसार के शासन का भार तुम्हारे ऊपर पड़ेगा, त्यों-ही-त्यों तुम अपनी आज की भूल पर पछताओगे। अध्यापन-कार्य भी बड़ा ही भयकारी होता है, जिसमें अपनी नहीं, छात्रों की त्रुटियों का उत्तरदायित्व अपने ही सिर लादा जाता है। यदि अब भी तुम और तुम्हारे सहपाठी बालक हरिकीर्तन और हरिभक्ति न छोड़ेंगे, तो हमारा किसी प्रकार से कल्याण नहीं। हम लोग दैत्यों के गुरु हैं देवताओं के नहीं। देवताओं के यहाँ गुरुओं का जितना सम्मान होता है, उतना दैत्यों के यहाँ नहीं। अतएव हम लोग दैत्यराज के कोपानल से किसी प्रकार बच नहीं सकते। यदि पिताजी के प्रभाव के कारण वे अधिक न करेंगे तो हमारी सारी सम्पत्ति अपहृत (जब्त) कर अपमान के साथ देशनिकाले का दण्ड तो हमें अवश्य ही देंगे। इसीलिये हम तुमसे अपने प्राणों की गुरुदक्षिणा माँगते हैं।'

प्रह्लाद—'गुरुवर ! पूज्यपाद पिताजी का मुझपर प्रेम अवश्य अधिक है किन्तु मैं उनके राजसिंहासन का उत्तराधिकारी नहीं हूँ। मेरे ज्येष्ठ भ्राता उसके उत्तराधिकारी हैं। फिर मुझे शासन की यन्त्रणा देख कर बड़ा त्रास होता है, उससे दूर रहना ही मेरे लिये अधिक कल्याणकारी है। मुझे 'तप से राज्य और राज्य से नरक की बात का बारम्बार स्मरण होता है।' यह बात वास्तव में ठीक ही है। किन्तु फिर भी आप निश्चय मानें कि मैं आज से आपकी आज्ञा का इतना तो पालन अवश्य करूँगा कि, अपने आप जान-बूझ कर आपको तथा पिताजी को अपने मन की बात 'हरिभक्ति' को प्रकट करके क्रुद्ध एवं दुखी करने की चेष्टा नहीं करूँगा अवश्य ही उसका छोड़ना तो मेरी शक्ति से बाहर की बात है।'

आचार्य—'बेटा प्रह्लाद ! वैष्णवधर्म में सबसे अधिक महत्त्व गुरु का ही माना गया है।' ऋषियों ने कहा है कि—

बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो वधिरास्तथा ।
सदाचार्येण संदृष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥
गुरुणा योऽभिमन्येत गुरुं वा योऽभिमन्यते ।
तावुभौ परमां सिद्धिं नियमादुपगच्छतः ॥

(नारदपाञ्चरात्र)

अर्थात् शिष्य चाहे बालक हो, मूक हो, जड़ हो, अन्ध हो, पङ्गु हो और चाहे वधिर हो; किन्तु मदीयत्व के अभिमान के साथ यदि उसको अच्छे आचार्य कृपादृष्टि से देखते हैं तो वे शिष्य अवश्य ही परमपद—मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जिस शिष्य को गुरु



प्रह्लादकी क्षमा

पृष्ठ २००

अपना रक्ष्य मानते हैं अर्थात् जिस शिष्य की रक्षा का भार सद्गुरु अपने ऊपर समझते हैं और जो शिष्य सद्गुरु को अपना रक्षक—मोक्षप्रदाता समझते हैं, वे दोनों ही शिष्य-प्रपत्ति के नियमानुसार परमसिद्धि—मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतएव हे राजकुमार ! तुम हम गुरुओं को अपना रक्षक मानो, हम लोग यदि तुमको अपना और अपना रक्ष्य न समझते तो, तुम्हारे साथ इतनी मत्थापच्ची न करते और अब से बहुत पहले ही तुमको तथा तुम्हारे दूसरे साथियों को दैत्यराज के कठोर हाथों में सौंप कर यह कह देते कि ये पागल हो गये हैं, और इनको सँभालना हमारी शक्ति के बाहर है। परन्तु हम तुम्हारा बध नहीं, कल्याण चाहते हैं, तुमको अपना समझते हैं, तुम हमपर विश्वास करो। वैष्णव-धर्म के अनुसार ही तुम विश्वास करो, तुम्हारे हरि तुमको परमपद अर्थात् मोक्ष देंगे।'

प्रह्लाद—'आचार्यचरण ! इसमें सन्देह नहीं कि आपने हमको शास्त्रज्ञान दिया है, आप लोग हम लोगों के गुरु हैं और पिता के पद से भी अधिक पूज्य हैं, किन्तु वैष्णवता के गुरु नहीं। वैष्णवधर्म में उसके उपदेश के लिये, सद्गुरु की आपने जो महिमा कही है, उसके लिये भी आप सद्गुरु-पद के योग्य हो जायँ, तो मेरे हर्ष का वारापार न रहे। इसी अभिप्राय से तो मैं आप लोगों से बारम्बार कहता हूँ कि आप लोग भी हरिभक्त होकर एक बार कहें तो—

'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्'

फिर देखें हम लोग आपको अपना विद्यागुरु ही नहीं, धर्म-गुरु भी मानने लगें और फिर आपकी यह पाठशाला वैष्णवशाला बन, संसार के न जाने कितने पतित-पामर प्राणियों की उद्धारशाला

बन जाय। गुरुजी ! वैष्णव-शास्त्रों में जहाँ सद्गुरु की इतनी महिमा कही गयी है, वहाँ उनके लक्षण और आचार भी तो कहे हैं। ऋषियों ने लिखा है कि—

स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः।
स्वकर्मनिरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः॥
नाचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि॥

(भारद्वाजसंहिता)

अर्थात् 'वे ब्राह्मण, आचार्यपद के योग्य होते हैं जो स्वयं भक्त हों, ज्ञान एवं वैराग्य के गुणों से भूषित अपने कर्म के करनेवाले हों; ब्राह्मण एवं गुरुकुल में उत्पन्न होने पर भी ज्ञान, भक्ति आदि से रहित व्यक्ति आचार्यपद के योग्य नहीं होते और उत्कृष्ट जाति एवं उत्कृष्ट वय के शिष्य के लिये हीन वय एवं हीन जाति का व्यक्ति आचार्यपद के योग्य नहीं होता।' इसी कारण हम लोग चाहते हैं कि आप भगवद्भक्त होकर हम लोगों के सर्वथा आचार्य बन हम लोगों का उद्धार करें।

प्रह्लाद के शास्त्र एवं नीतियुक्त वचनों को सुन, और यह जान कर कि यह समझाने-बुझाने से माननेवाला नहीं, आचार्य लोगों ने अधिक बात बढ़ाना उचित नहीं समझा और यह कह कर बात को टाल दिया कि 'अब अधिक पण्डिताई न दिखलाओ, जाओ पढ़ो, किन्तु इतना स्मरण रक्खो कि यदि हम लोगों के सामने अथवा अपने पिताजी के सामने तुम भविष्य में हरिकीर्तन अथवा हरिभक्ति की चर्चा करोगे तो तुम्हारा कुशल नहीं है, फिर तुम्हारी अच्छी तरह खबर ली जायगी।'

उन्नीसवाँ अध्याय

दैत्य-बालकों से प्रह्लाद की बातचीत

प्रह्लाद का सहपाठी बालकों को ज्ञानोपदेश



ह्लाद पुनः अपना पाठ पढ़ने लगे, गुरु-पुत्रों ने उनको शुक्रनीति के तत्त्वों को भली भाँति पढ़ाया और अर्थ, धर्म तथा काम इन त्रिवर्गों को समझाया। साथ ही आचार्य-पुत्रों ने शिवपरत्व के न जाने कितने दार्शनिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी और धीरे-धीरे उनको यह विश्वास होने लगा कि अब प्रह्लाद ठीक रास्ते पर आ गये हैं, विष्णुभक्ति का भूत उनके ऊपर से उतर गया है। क्योंकि अब प्रह्लादजी उनके सामने हरिकीर्तन करना उचित न समझ उनकी अनुपस्थिति में ही सब कुछ करते थे। उनकी पाठशाला के वे सब छात्र भी अब प्रह्लाद के अनुगामी बन गये जो पहले प्रह्लाद की शिकायत करते थे। अतएव गुरुवरों को प्रह्लाद की भगवद्भक्ति की खबर ही नहीं मिलती थी। अब उन्हें विश्वास हो गया था कि प्रह्लाद की वह लड़कपन की सनक थी, जो अब मिट गयी। इसी कारण वे उसकी चर्चा करके पुनः प्रह्लाद को उसका स्मरण दिलाना उचित नहीं समझते थे।

इधर गुरुवर इस प्रकार निश्चिन्त हो बैठे थे, उधर ब्रह्मचारी प्रह्लाद की भगवद्भक्ति दिनदूनी रातचौगुनी बढ़ती जा रही थी। उनके

सहपाठी उनको पूज्य दृष्टि से देखने लगे और उन्हीं के उपदेशानुसार हरिभक्ति के अमृत-रस का आस्वादन करने लगे। क्या असुर-बालक और क्या द्विजातियों के बालक, सभी प्रह्लाद के अनुगामी बन अपने आपको कृतकृत्य मानने लगे। एक दिन आचार्यगण अपने गृह-कार्य से बाहर चले गये थे। पीछे से सभी लड़के आकर प्रह्लाद के समीप बैठ गये। प्रह्लादजी से उन लोगों ने प्रार्थना की कि आप हमको कुछ हमारे जीवन के लिये हितकर उपदेश दें। बालकों की प्रार्थनानुसार प्रह्लादजी ने कहा—

'संसार में भगवद्भक्ति से बढ़ कर आत्मोद्धार का उपाय दूसरा कोई नहीं, इस बात को तो तुम लोग खूब ही जान चुके हो। इस समय मैं तुम लोगों से केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि, इस कुमार-अवस्था से ही भगवान् की शरणागति करनी चाहिए। जो इस अवस्था से भक्ति करते हैं, वे ही पण्डित हैं। जो यह सोचते हैं कि, अभी खेलने-कूदने का समय है, फिर भक्ति कर लेंगे या जो सोचते हैं कि अभी पढ़ने-लिखने का समय है, फिर भक्ति कर लेंगे और जो यह समझते हैं कि, अभी गृहस्थ-धर्म का पालन करें पीछे भगवद्भक्ति कर लेंगे, वे तीनों ही भूलते हैं। जो समझते हैं कि, प्रथम अवस्था में विद्या पढ़ें, दूसरी अवस्था में धनोपार्जन करें और तीसरी अवस्था में धर्मोपार्जन के समय भगवद्भक्ति कर लेंगे, वे अपने आत्मा को ठगते और सर्वथा भूल करते हैं। भक्ति-जैसे अमृतपान के लिये किसी अवस्थाविशेष की बाट देखना मूर्खता है। अतएव हे मेरे सहपाठी बन्धुओ ! असुरों और द्विजातियों के

सुपूतो ! भगवद्भक्ति ही में लग जाओ और जो लगे हो तो अपने अन्यान्य बन्धुओं को भगवान् के भक्त बनाने में लग जाओ और सब लोग कहो तो—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' थोड़ी देर इस प्रकार बड़े ही प्रेम से हरि-कीर्तन होता रहा, पश्चात् जब प्रह्लाद चुप हो गये तब बालकों ने फिर कहा—'राजकुमार ! यद्यपि हम आप सहपाठी हैं, सहधर्मी हैं, सजातीय हैं और समवयस्क हैं, तथापि आपकी दैवी-शक्ति, आपकी अपूर्व भक्ति तथा आपकी अपने ऊपर अनुरक्ति देख कर हम लोग आपके चरणों के दास बन रहे हैं और आचार्य-पुत्रों के स्थान में हम लोग आप ही को अपना पूज्य गुरु मानते हैं। हम लोग जन्म से अद्यावधि एक ही साथ रहे किन्तु हम लोगों को यह पता न चला कि आपने यह अमृतोपम भगवद्भक्तिरूपी ज्ञान कब और किस गुरु से प्राप्त किया ?'

प्रह्लाद—'प्रिय बन्धुवर्ग ! मुझको भगवद्भक्ति का ज्ञान महर्षि नारदजी के द्वारा प्राप्त हुआ था, जो संसार में सर्वश्रेष्ठ त्यागी और परमभागवत हैं।'

बालकगण—'हे राजकुमार ! जन्मकाल से तो आप अपने अन्तःपुर में रहते थे, जबसे गुरुकुल में आये तबसे हम लोगों का और आपका रात-दिन साथ रहता है, कभी एक क्षण को भी साथ नहीं छूटता, फिर महर्षि नारद कब आये और कब आपको उन्होंने उपदेश दिया ? यह बात हम लोगों की समझ में नहीं आती।'

प्रह्लाद—'हे मित्रगण ! आप लोगों का सन्देह ठीक है, मैंने जन्म ग्रहण करने के बाद आज तक महर्षि नारदजी से या अन्य किसी महात्मा से भगवद्भक्ति का उपदेश नहीं पाया। मैंने यह उपदेश उस समय पाया था जब मैं अपनी माता के पवित्र गर्भ में था।'

बालकगण—'राजकुमार ! आपकी जैसे सभी बातें कौतूहलकारक होती हैं वैसे ही यह बात भी बड़े अचरज की है। लोग पहले अक्षरारम्भ करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं और तब कहीं उनको भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। आपने गर्भ ही में कैसे इस ज्ञान को प्राप्त कर लिया ? गर्भ में तो जीव अज्ञान-दशा में रहता है। उसके ऊपर ज्ञानोपदेश का प्रभाव ही कैसे पड़ सकता है ?'

प्रह्लाद—'भाइयो ! आप मेरी बात को हँसी न समझें। मैंने आपसे सत्य ही कहा है कि मुझको हरिभक्ति की शिक्षा गर्भ में मिली है। इसका इतिहास इस प्रकार है कि मेरे पिताजी जब मन्दराचल की कन्दरा में तप कर रहे थे, तब देवराज इन्द्र ने उनको निर्जीव-सा समझ कर 'हिरण्यपुर' पर अकारण आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर डाला। पिताजी के सारे सेनापति और हमारे भाई लोग, आत्मसमर्पण कर देवराज के बन्दी बन गये थे और कायर कुपूत असुर भाग-भाग कर अपनी-अपनी जान बचाते फिरते थे। युद्ध-विशारद वीर सैनिक युद्ध में काम आ गये तथा विशाल अन्तःपुर अनाथ-सा हो गया। अनन्तर मदान्ध देवराज मेरी माता को अन्तःपुर से बलात् अपने साथ

ले जाने के लिये तैयार हो गये, उस समय मैं माता के गर्भ में था और वह बहुत ही दीन एवं दुखित दशा में थीं। बारम्बार अनुनय-विनय करने पर भी इन्द्र ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा, इसलिये वह बड़े ही करुण-स्वर से रो रही थीं। उनके करुणापूर्ण रुदन को महर्षि नारदजी ने सुन लिया। अतः मार्ग ही में आकर देवराज को समझा-बुझा कर उनसे माताजी का पिण्ड छुड़ाया। उस समय सारा 'हिरण्यपुर' मटियामेट हो चुका था। अन्तःपुर भी निर्दयी देवताओं की करतूतों से निर्जन खँड़हर के रूप में शेष रह गया था। असुरगण या तो मारे जा चुके थे, या बन्दी हो चुके थे अथवा भाग-भाग कर देश-देशान्तरों में लुक-छिप रहे थे। ऐसी दशा में माताजी को कौन आश्रय देता? महर्षि नारद अपनी दिव्यदृष्टि से यह जान चुके थे कि मैं गर्भ में हूँ अतएव उन्होंने मेरी अनाथा माता को उस समय अपने आश्रम में ले जाकर आश्रय दिया और जब तक मेरे पिताजी तपस्या करके नहीं लौटे, तब तक वहीं पर उनको सुरक्षित रक्खा। उस समय माताजी के व्याज से महर्षि नारदजी मुझ गर्भस्थ को नित्य ही भगवद्भक्ति एवं भागवत धर्म का उपदेश करते थे, जो मुझे अब तक स्मरण है। मैंने अब तक जो उपदेश आप लोगों को सुनाया है वह सब उन्हींका है। माताजी तो कदाचित् उन उपदेशों को भूल गयीं, किन्तु मुझे वे सब अक्षरशः याद हैं और ऐसे याद हैं मानों अभी-अभी महर्षि नारदजी सुना कर गये हैं।'

बालकगण—'राजकुमार ! अपने अनुभव तथा महर्षि नारदजी के उपदेश का आप जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान समझते हों, कृपया हम लोगों को वही सुनाइये ।'

प्रह्लाद—'हे प्रिय बन्धुगण ! तुम लोगों ने जो पूछा है उसको मैं संक्षेप में कहता हूँ, ध्यान लगा कर सुनो ।

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोः सर्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मवत् तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥
समुत्सृज्यासुरं भावं तस्माद्यूयं तथा वयम् ।
तथा यत्नं करिष्यामो यथा प्राप्स्याम निर्वृतिम्॥
या नाग्निना न चार्केण नेन्दुना न च वायुना ।
पर्जन्यवरुणाभ्यां वा न सिद्धैर्न च राक्षसैः ॥
न यक्षैर्नैव दैत्येन्द्रैर्नोरगैर्न च किन्नरैः ।
न मनुष्यैर्न पशुभिर्दोषैर्नैवात्मसम्भवैः ॥
ज्वराक्षिरोगातीसारप्लीहगुल्मादिकैस्तथा ।
द्वेषेर्ष्यामत्सराद्यैर्वा रागलोभादिभिः क्षयम् ॥
न चान्यैर्नीयते कैश्चिन्नित्या यात्यन्तनिर्मला ।
तामाप्नोत्यमलं न्यस्य केशवे हृदयं नरः ॥
असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि ।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम् ॥
(विष्णु० १ । १७ । ८४—९१)

अर्थात् 'यह सारा विश्व भगवान् का विस्तृत रूप है। अतएव बुद्धिमानों को चाहिए कि सबको अभेद-दृष्टि से अपने ही समान देखें। हम और तुम लोग आसुरभाव को छोड़ कर ऐसा यत्न करें कि जिससे इस अपार संसार से निवृत्त हो शान्ति लाभ कर सकें। भगवान् केशव में हृदय अर्पण करके मनुष्य जिस शान्ति को प्राप्त करता है वह अत्यन्त निर्मल है। उसको न वायु नष्ट कर सकता है, न अग्नि नष्ट कर सकता है, न सूर्य नष्ट कर सकता है और न चन्द्रमा नष्ट कर सकता है। पर्जन्य और वरुण भी उस शक्ति को नष्ट नहीं कर सकते, न सिद्धगण और न राक्षसगण ही उसकी ओर देख सकते हैं। यक्ष लोग भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते और न दैत्यराज ही कुछ कर सकते हैं। सर्प, किन्नर, मनुष्य और पशु भी उसे कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते। इतना ही नहीं, अपने ही दोष से उत्पन्न ज्वर, अतीसार, प्लीहा, गुल्म आदि रोग तथा द्वेष, ईर्ष्या, मत्सर, राग और लोभ आदि विकार भी उसको नष्ट नहीं कर सकते। हे दैत्यपुत्रो ! इस असार संसार के उलट-फेर के फेर में मत पड़ो ! सर्वत्र समता का पवित्र भाव हृदय में रक्खो। सर्व भूतों में समता रखना ही सबसे बड़ा भगवान् का आराधन है। उन भगवान्

को इस प्रकार भक्ति द्वारा प्रसन्न कर लेने पर संसार में कौन-सा पदार्थ अलभ्य है ? उस परब्रह्म परमात्मारूपी अनन्त कल्पवृक्ष के आश्रित होने पर धर्म, अर्थ और काम-जैसे अल्प अर्थ से क्या ? तुम लोग निस्सन्देह परमपद मोक्षरूपी महाफल को प्राप्त कर लोगे ।'

प्रह्लादजी के ज्ञानोपदेश को सुन उनके सहपाठी सभी छात्र आनन्दमग्न हो गये और भक्तिरस के अगाध सागर में गोते खाने लगे, थोड़ी देर तक सब मौन रहे, फिर प्रह्लाद के आदेशानुसार सब-के-सब एक स्वर से हरिकीर्तन करने लगे । हरिकीर्तन के अनन्तर सभी छात्र अपने-अपने विश्राम-स्थल को चले गये ।



बीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद का पुनः राजसभा में प्रवेश

प्रथम वार का आक्रमण

पुरोहितों की प्रार्थना पर मुक्ति



छ समय के पश्चात् दैत्यराज ने अपना दूत भेज कर गुरुपुत्रों के साथ ब्रह्मचारी प्रह्लाद को बुलवाया और बड़े प्रेम के साथ उनको अपनी गोद में बिठा कर पूछा 'बेटा! इतने दिन हो गये तुमने जो विद्या का सार अपने आचार्य-चरणों से प्राप्त किया हो, उसको हमें सुनाओ। बेटा प्रह्लाद! तुम्हारे गुरु तुम्हारी बड़ी प्रशंसा करते हैं और तुम्हारी माता तो तुम्हारे समान देव-बालकों के ज्ञान को भी नहीं मानती। इस प्रकार हम बारम्बार दूसरों से तुम्हारी प्रशंसा सुनते रहे हैं, आज स्वयं तुम्हारे ही मुख से ज्ञान-चर्चा सुनना चाहते हैं, कहो।'

प्रह्लाद—'पितृचरण! सबसे प्रथम मैं आपके पूज्य-चरणों में प्रणाम करता हूँ, तत्पश्चात् अपने गुरुओं के चरण-कमलों में सादर प्रणाम करके आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। पिताजी—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् भगवान् की कथा-वार्ता सुनना, उनके गुणानुवाद का कीर्तन करना, उन्हीं का स्मरण करना, उनकी परिचर्या करना, उन्हीं की दृढ़ विश्वासपूर्वक पूजा करना—उनके चरणकमलों में अपने समस्त सत्कर्मों का अर्पण करना, उन्हीं को अपना उद्धारकर्ता मानना, उन्हीं की वन्दना करना, उन्हीं को अपना एकमात्र परम स्वामी मानना, उन्हीं को परम प्रिय मित्र समझना और उन्हीं के शरणागति में अपने आपको अर्पण कर देना—यही भगवान् की नवधा भक्ति है। यदि पुरुष इस भक्ति को उन्हीं के चरण-कमलों में अर्पण करके करे तो मैं इसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।' जिस प्रकार बेची हुई गौओं के पालन-पोषण का भार विक्रेता अपने ऊपर नहीं समझता, उसी प्रकार जो आत्म-समर्पणकर्ता आत्मसमर्पण करके किसी भी बात की कोई भी चिन्ता नहीं करता, वही ज्ञानी है और इसी ज्ञान को मैंने स्वयं सर्वोत्तम ज्ञान समझा और पढ़ा है।

दैत्यराज—'हे ब्रह्मबन्धो! हे कृतघ्न गुरुपुत्रो! तुम लोगों ने हमारे पुत्र को यह क्या पढ़ा दिया है? तुम लोगों ने ब्रह्मचारी को सीधा-सादा देख कर ये असार बातें, जो हमारे विरुद्ध और हमारा अपमान करनेवाली हैं, पढ़ा कर कितनी बड़ी मूर्खता की है। अवश्य ही संसार में बहुतेरे शत्रु ऐसे होते हैं जो छिपे हुए और मित्र के रूप में रहते हैं, किन्तु जिस प्रकार समय और संयोग पाकर

पापियों के पापजनित रोग प्रकट हो ही जाते हैं उसी प्रकार उन प्रच्छन्न शत्रुओं की शत्रुता भी संयोग पाकर प्रकट हो ही जाती है। आज हम देख रहे हैं कि जिन आचार्यचरण को हम अपना सर्वस्व समझते हैं, उन्हीं के सुपुत्र तुम लोगों ने हमारे उपकारों को भुला कर हमारे ही भविष्य को बिगाड़ने के लिये एक सीधे-सादे ब्रह्मचारी को कैसी भयङ्कर शिक्षा दी है? क्या इस कृतघ्नता का फल तुम लोगों के लिये अच्छा होगा?'

गुरुपुत्र—'दैत्यराज! आप क्रोध न करें, इस बालक की यह विरोधिनी बुद्धि न तो हम लोगों की शिक्षा का फल है, न किसी दूसरे की शिक्षा का ही फल है। यह तो इसकी स्वाभाविकी बुद्धि है। हमारी बात पर आप विश्वास करें और सन्देह हो तो स्वयं परीक्षा करके देख लें।'

दैत्यराज—'हे पुत्र! तुम्हीं सत्य-सत्य बतलाओ, तुमको बालक समझ कर किसने अपने जाति, कुल एवं स्वयं पिता के शत्रु विष्णु की भक्ति सिखलायी है? बेटा! तुमको ब्राह्मणों ने जिस प्रकार बहकाया है, इसी प्रकार बालकपन में हमको भी इन लोगों ने ही बहकाया था किन्तु ज्यों-ज्यों हमारी अवस्था और बुद्धि परिपक्व हुई, त्यों-ही-त्यों हम उनकी असार बातें छोड़, अपनी पदमर्यादा के अनुसार काम करने लगे। आज तुम हमको जो तीनों लोक के स्वामी देख रहे हो, यह ब्राह्मणों की शिक्षा का फल नहीं है, हमारे पुरुषार्थ का फल है। अभी तुम इन ब्राह्मणों की माया को नहीं समझते। ये बड़े ही कृतघ्न, राजद्रोही एवं आत्माभिमानी होते हैं।

भिक्षाटन करनेवाला ब्राह्मण भी अपने आपको चक्रवर्ती सम्राट् से भी ऊँचे पद का महाराज समझता है। अतएव इनके संसर्ग से तुमको अब हम दूर ही रक्खेंगे। बेटा! यह तो बतलाओ कि तुमको पाठशाला में या बाहर, कहाँ किसने ऐसी शिक्षा दी है कि, तुम शत्रु की सेवा और भक्ति करो। यह तो एक मूर्ख भी जानता है कि यदि सर्प चूहे की भक्ति करने लगे, बिल्ली चूहों के चरण-रज को सिर चढ़ाने लगे और मोर सर्प की आवभगत करने लगे तो सर्प, बिल्ली और मोर की इज्जत मिट्टी में मिल जायगी तथा चारों ओर उनके पौरुष की निन्दा होने लगे। जो मनुष्य शत्रु की सेवा करता है उसको लोग कायर, अकर्मण्य और कुपूत कहते हैं, इसलिये बेटा! बतलाओ तो तुमको किसने राजकुमार के योग्य शिक्षा न देकर कुपूतों के योग्य शिक्षा दी है?'

प्रह्लाद—'पिताजी! आप मेरे गुरुओं की बात सत्य मानें। मुझे न तो गुरुओं ने शिक्षा दी है कि विष्णुभक्ति सर्वोपरि है और न किसी अन्य ब्राह्मण ने ही। आप ब्राह्मणों पर क्रोध न करें, मुझे जिसने शिक्षा दी है वह मेरे अन्तरात्मा में, आपके भी अन्तरात्मा में और सारे संसार के अन्तरात्माओं में बैठा है। वह एक है, अनेक है, सर्वव्यापी है और विश्वरूप है। आप उस विष्णु की भक्ति को बुरा न समझें। उसकी भक्ति से आपके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे। आप अब अविलम्ब उसी की शरणागति को स्वीकार करने की कृपा करें।'

दैत्यराज—'हा दैव! यह कैसा अनर्थ है? जिस अपने हृदय के टुकड़े को हम तथा महारानी कयाधू ने प्राणों से भी

अधिक प्रिय समझा था, आज उसकी दुर्बुद्धि के कारण क्या हमें उसको—कोमल कमल की-सी कली को अपने हाथों मसलना पड़ेगा। यह हृदयविदारक कार्य विवश होकर क्या हमको करना ही पड़ेगा? हे शङ्कर! इस बालक का कल्याण करो और इसकी बुद्धि को शुद्ध करो। बेटा प्रह्लाद! अब भी तुम्हारी बुद्धि ठिकाने नहीं आयी यह कितने दुःख की बात है? तुम जिस विष्णु की भक्ति करते हो वह हमारा घोर शत्रु है, देवताओं का बड़ा पक्षपाती है। उसकी जितनी ही निन्दा की जाय थोड़ी है। उसने तुम्हारे चचा को जो हमारा परम प्रिय भ्राता था, अकारण ही पाताल में जाकर मार डाला था। क्या अपने चचा के बध करनेवाले आततायी की भक्ति करने से संसार में तुम्हारी अपकीर्ति न होगी? तुमको लोग या तो कुलद्रोही कुपूत कहेंगे या कायर! अतएव अभी समय है, तुम उस हमारे शत्रु का नाम लेना छोड़, अपने कुल की मर्यादा के अनुसार वीर पुत्र के समान हमारी शिक्षा ग्रहण करो।'

प्रह्लाद—'पितृचरण! संसार में न तो कोई किसी का मित्र है और न शत्रु है, जो व्यक्ति किसी को शत्रु मान कर उसपर क्रोध करते हैं वे वास्तव में अपनी ही हानि करते हैं। संसार विष्णुमय है, अतएव यह विश्व उसका शरीर है जिसे विराट् पुरुष कहते हैं। शरीर का एक अंग दूसरे अंग का शत्रु कैसे हो सकता है? आप उस निर्विकार परब्रह्म विष्णु को अपनी पक्षपातिनी बुद्धि ही से पक्षपाती, अपनी शत्रुताभरी बुद्धि से शत्रु एवं अपनी न्यायरहित बुद्धि से अन्यायी कहते और समझते हैं; वास्तव में वह सर्वेश्वर न

पक्षपाती है, न अन्यायी है और न आपका शत्रु है। आप मेरे जन्मदाता पिता हैं। आपकी आज्ञा मेरे लिये सर्वथा शिरोधार्य है, किन्तु कृपापूर्वक न तो उस परम पिता की भक्ति को छुड़ाने की चेष्टा करें और न आप मेरे अन्तःकरण को चोट पहुँचानेवाली उनकी निन्दा ही करें।'

प्रह्लाद की बातें सुन दैत्यराज क्रोध और पुत्रवात्सल्य के द्वन्द्व से उन्मत्त-सा हो उठा। अन्त में उसने कहा कि 'हे असुरो! मैं अपने हृदय को पाषाण के समान कठोर करके तुम लोगों को आज्ञा देता हूँ, इस असुरकुल के कुलाङ्गार को ले जाओ और अपने तीक्ष्णधार शस्त्रों और अस्त्रों से इसका तुरन्त अन्त कर डालो। मेरे सामने से इसे तुरन्त हटाओ और निर्दय होकर इसका बध कर डालो। सावधान, महारानी कयाधू इस बात को न जानने पावें, जब इसका बध हो जाय तभी उनके कानों तक यह समाचार पहुँचे।'

दैत्यराज की आज्ञा पाते ही न जाने कितने असुर अपनी भयङ्कर भाषा और भेष से भयभीत करने की चेष्टा करते हुए एकाएक ब्रह्मचारी प्रह्लाद की ओर दौड़ पड़े और सहसा उनको उठा कर एक ऐसे निर्जन एवं भयावने स्थान पर ले गये जहाँ का दृश्य श्मशान के समान महान् भयावना था। उस विस्तृत निर्जन स्थान में असुरगण अपनी आसुरी-प्रकृति की निर्दयता का परिचय देने लगे। ब्रह्मचारी प्रह्लाद पर वे अपने तीक्ष्णधार हथियारों से एक-एक करके आक्रमण करने लगे और ऐसा कोलाहल मचाने लगे कि, जिससे एक का शब्द दूसरे को सुनायी न पड़े।

शस्त्रों की मार से प्रह्लाद का बाल भी बाँका न होते देख दैत्यराज की आज्ञा का स्मरण कर असुर बारम्बार खिसिया-खिसिया कर एक ही साथ आक्रमण करने लगे, किन्तु भगवान् के भक्त प्रह्लाद अपने अन्तरात्मा विष्णु की भक्ति में निमग्न खड़े रहे। भगवत्-कृपा से उन्हें अपने शरीर पर किये गये असुरों के शस्त्रास्त्रों के आक्रमण पुष्पवृष्टि के समान प्रतीत होते थे। उनपर जितने शस्त्रास्त्र चलाये गये, वे सभी नष्ट-भ्रष्ट हो गये। एक भी काम का न रह गया। अन्त में उन असुरों ने हताश हो असुरेश्वर की राजसभा में जाकर अपने निष्फल आक्रमणों की कथा बड़ी लज्जा और बड़े आश्चर्य के साथ सुनायी। असुरेश्वर भी क्रोध और आश्चर्यवश उसी निर्जन-स्थान में अपने असुर-वीरों के साथ जा पहुँचे और उन्होंने वहाँ प्रह्लाद की कोमल कमल-जैसी कमनीय मूर्ति को स्थिर, ध्यान-मग्न, एवं स्तब्ध बैठे देखा।

हिरण्यकशिपु ने असुरों को पुनः अपने सामने प्रह्लाद पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। उन लोगों ने पुनः घोर आक्रमण किया, किन्तु इस बार भी फल कुछ भी न हुआ। सारे-के-सारे शस्त्रास्त्र प्रह्लाद के शरीर से टकरा-टकरा कर चूरमूर हो दूर गिर पड़े। बड़े-बड़े वज्र-समान शस्त्रास्त्रों को इस प्रकार तृण के सदृश टूटते तथा मिट्टी के समान फूटते देख, दैत्यराज के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने ध्यानावस्थित, निस्तब्ध-मूर्ति प्रह्लाद को सम्बोधित करके कहा—'प्रह्लाद! प्रह्लाद! तू यह क्या बाजीगरी कर रहा है?' उत्तर कुछ नहीं मिला। प्रह्लाद ज्यों-के-त्यों

निस्तब्ध ही बैठे रहे। उनका ध्यान नहीं टूटा। इस घटना को देख सारे-के-सारे असुर वीर और उनके स्वामी असुरेश्वर हिरण्यकशिपु चित्र के समान खड़े रह गये। सब पत्थर की मूर्ति-से बन एक दूसरे की ओर देख रहे थे, कोई किसी से कुछ भी नहीं बोलता था। कुछ देर बाद भक्त प्रह्लाद का ध्यान टूटा और उन्होंने आँखें खोलीं तो सामने अपने पिता को असुर वीरों सहित खड़े देखा। प्रह्लाद ने पिता को सादर प्रणाम किया और मधुर-स्वर से मोहित-से करते हुए कहा कि 'पिताजी ! क्या आज्ञा है ?'

दैत्यराज—'प्रह्लाद ! तुमको इन दैत्यों ने वज्र-समान तीखे हथियारों से न जाने कितनी बार मारने की चेष्टा की; किन्तु तुम्हारे कमल-सदृश कोमल-शरीर से टकरा-टकरा कर सारे-के-सारे हथियार बेकार हो गये, पर वे तुम्हारे एक रोम को भी हानि नहीं पहुँचा सके, इसका क्या कारण है ? क्या तुमने कोई अस्त्र-शस्त्र-निवारण मन्त्र सिद्ध किया है ? अथवा इसका कोई अन्य कारण है ?'

प्रह्लाद—'पिताजी ! इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। आप सत्य समझें, यह केवल भगवान् विष्णु की महिमा है—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ यथा स्थितः।
दैतेय तेन सत्येन नाक्रमन्त्यायुधानि मे॥

(विष्णु० १।१७।३३)

अर्थात् हे पिताजी ! जो सर्वव्यापी विष्णुभगवान् आपके शस्त्रों में वर्तमान हैं वे ही मेरे शरीर में हैं। दोनों ही में वे मुझे समानरूप से दिखलायी देते हैं। इसी सत्य

ज्ञान के कारण ये आपके हथियार मुझ पर आक्रमण नहीं करते।'

दैत्यराज—'रे मूर्ख राजकुमार ! अब भी कुशल है, तू शत्रु-प्रक्ष को छोड़ दे, हम तुझको अभय प्रदान करते हैं।'

प्रह्लाद—

'भयं भयानामपहारिणि स्थिते मनस्यनन्ते मयि कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादिभयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥'

(विष्णु० १।१७।३६)

अर्थात् 'हे पिताजी ! जिन भगवान् विष्णु के स्मरण से इस संसार के जन्म, जरा और यम आदि से उत्पन्न भय भाग जाते हैं, उन भयहारी विहारी के मेरे मन में रहते मेरे लिये भय कहाँ है ?'

प्रह्लादजी की बातें सुन कर दैत्यराज पुनः क्रोध से उन्मत्त हो गया और बोला—'हे सेवको ! इस दुष्ट बालक को तुम लोग तुरन्त अपने विष की ज्वाला से भस्म करके हमारे आन्तरिक शत्रु को नष्ट कर दो।' दैत्यराज की आज्ञा सुनते ही कुहक, अन्ध, तक्षक आदि महा विषधर सर्पों ने सहसा ब्रह्मचारी प्रह्लाद पर आक्रमण किया और उनके सारे शरीर में लिपट कर वे उसे काटने लगे, किन्तु भक्त प्रह्लाद के शरीर में न तो उनके विषधर दाँत गड़े और न उनके विष की ज्वाला का ही उनपर कोई प्रभाव पड़ा, प्रत्युत उन सर्पों के हृदय काँपने लगे, दाँत टूक-टूक हो गये, मणि फूटने लगी और फण फूटने लगे। सर्पों ने अपनी यह दशा दैत्यराज से कही, जिसे सुन कर दैत्यराज को बड़ा आश्चर्य हुआ एवं चिन्ता उत्पन्न हो गयी। उसने अपने बड़े-बड़े मतवाले दिग्गजों को आज्ञा दी कि 'हे दिग्गजो ! तुम लोग

जिस प्रकार रण में शत्रुओं को धूल में मिला देते हो, अपने कोपानल से भस्म कर देते हो, उसी प्रकार इस राजकुमार को भी शत्रुपक्षी हो जाने के कारण तुरन्त नष्ट कर दो।' आज्ञा पाते ही पर्वत-शिखर के समान ऊँचे दिग्गज चिग्घारते हुए भक्त प्रह्लाद पर एकदम टूट पड़े और उन्हें पैरों से कुचलने तथा दाँतों से पीस डालने की चेष्टा करने लगे। गजराज बारम्बार प्रहार करते थे किन्तु प्रह्लाद के शरीर पर उनका तनिक भी आघात नहीं लगता था; उलटे दिग्गजों के दाँत टूट गये, उनके पैर बेकार हो गये और उनकी सारी मस्ती बात-की-बात में उतर गयी। लाचार हो दिग्गजों ने भी जाकर दैत्यराज से अपनी दुर्दशा का वर्णन करते हुए अपने घावों को दिखलाया। दिग्गजों की दुर्दशा देख दैत्यराज ने पुनः प्रह्लाद को बुला कर पूछा कि—'रे हठी प्रह्लाद! तेरी यह क्या बाजीगरी है? अब भी कुशल है, तू हठ छोड़ अपने जीवन को सफल कर।' पिता के वचनों को सुन कर प्रह्लाद ने पिता को सादर प्रणाम किया और कहा—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः ॥

(विष्णु० १।१७।४४)

अर्थात् 'पिताजी! कुलिश के समान ये गजराजों के निष्ठुर दाँत जो मेरे शरीर पर आघात करने से टूट गये हैं और फट गये हैं इसमें मेरा कुछ भी बल या पौरुष नहीं है। यह तो महाविपत्ति और क्लेशों

के नाश करनेवाले भगवान् जनार्दन के नाम-स्मरण का प्रभाव है।'

पुत्र की दृढ़ता और अपने उद्योगों की असफलता देख, दैत्यराज के क्रोधाग्नि में मानों घृत की आहुति पड़ने लगी। दैत्यराज ने असुरों को आदेश दिया कि, 'इस राजद्रोही राजकुमार को काष्ठ की महाचिता बना कर उसमें फूँक दो।' असुरों ने दैत्यराज की आज्ञानुसार एक महाचिता की रचना कर उसमें आग लगा दी। जब महापवन की प्रेरणा से आग धधक उठी तब उन लोगों ने प्रह्लाद को उसमें झोंक दिया। असुरगण चारों ओर घेरे खड़े थे और यह देख रहे थे कि प्रह्लाद की एक हड्डी भी अब न बचेगी; किन्तु जब आग शान्त हुई और उसकी लपटें निकलनी बन्द हो गयीं तब देखा गया कि अग्नि के बीच में प्रह्लाद भगवान् के ध्यान में मग्न खड़े हैं। उनके शरीर पर और उनके किसी वस्त्र पर अग्नि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। वे ऐसे विराजमान हैं मानों शीतल कमल की लाल-लाल पखुरियों के बीच में उसका फलपुञ्ज शोभायमान हो।

इसी प्रसङ्ग में यह कथा भी प्रचलित है कि ढुण्ढा नाम की एक राक्षसी थी, जो दैत्यराज की बहिन कही जाती थी। उसको यह सिद्धि थी कि वह जिसको गोद में लेकर आग की चिता में बैठ जाय, वह जल जाय, किन्तु वह राक्षसी स्वयं न जले। प्रह्लाद को जलाने के लिये भी वह बुलायी गयी और ज्यों ही वह प्रह्लाद को गोद में लेकर चिता में बैठी और चिता में आग लगायी गयी,

त्यों ही ढुण्ढा तो भस्म हो गयी, परन्तु प्रह्लादजी नहीं जले। ढुण्ढा ने अपनी प्रकृति की दुष्टता से न जाने कितने बालकों को जलाया था, अतएव बालसमाज उसका घोर शत्रु था। इसलिये ज्यों ही ढुण्ढा भस्म हो गयी त्यों ही बालकों में आनन्द छा गया और सब लोगों ने जाकर अग्नि की पूजा की तथा उसकी चिता-भस्म सिर में लगायी। वह दिन फाल्गुनी पूर्णिमा का और वार्षिक अग्न्याधान का था। अतएव उस दिन को लोग पवित्र तथा बालघातिनी ढुण्ढा के नाश का स्मारक समझ ढुण्ढेरी के नाम से मनाने लगे, जिसका शुद्ध नाम 'ढुण्ढारी' कहा जाता है।

बात कुछ भी हो किन्तु प्रबल पवनप्रेरित महाचिता में भी जब प्रह्लाद नहीं जले, तब उन्होंने दैत्यराज से हाथ जोड़ कर कहा कि—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि ॥

(विष्णु० १।१७।४७)

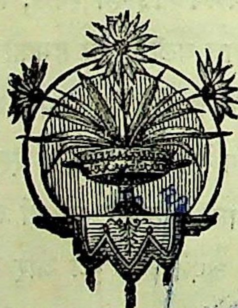
अर्थात् 'हे पिताजी ! यह महापवन से प्रेरित प्रज्वलित अग्नि मुझे नहीं जलाती, मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत हो रही हैं मानों मेरे चारों ओर कमल बिछे हों।'

प्रह्लाद को अग्नि में न जलते हुए देख दैत्यराज ने असुरों को

आज्ञा दी कि–'इस बालक को ले जाकर बड़ी ऊँची पहाड़ की भयावनी चोटियों पर से नीचे पटक दो, जिससे इसका शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जाय।' असुरों ने वैसा ही किया; किन्तु वहाँ भी प्रह्लाद का बाल बाँका न हुआ। वे ज्यों-के-त्यों सानन्द शान्तस्वरूप पहाड़ की चोटियों के नीचे जा खड़े हुए। जब दैत्यराज से असुरों ने वहाँ का सारा समाचार सुनाया, तब तो वे अत्यन्त क्रोध और आश्चर्य के सागर में डूबने-उतराने लगे। दैत्यराज की चिन्ता और विकलता देख, पुरोहितों ने उसकी स्तुति करते हुए कहा कि–'आप अपने इस देवतुल्य पुत्र पर क्रोध न करें और न इसके सम्बन्ध की चिन्ता करें। आपके उपाय इसके ऊपर सफल नहीं हुए, इसकी भी चिन्ता आप न करें, इससे आपका कोई अपमान नहीं है। नीति-शास्त्र में लिखा है कि *'सर्वतो विजयं हीच्छेत् पुत्रादिच्छेत्पराभवम्।'* अर्थात् बुद्धिमानों-को चाहिए कि सबसे विजय की इच्छा रक्खे, किन्तु पुत्र से तो यही इच्छा रक्खे, कि वह महान् बली होकर हमको ही हरा दे। राजन्! आप प्रसन्न हों, अब हम इसको फिर अपने साथ ले जाते हैं और इस बार इसको हम लोग ऐसी शिक्षा देंगे, ऐसा तैयार करेंगे कि यह विपक्षियों का पक्षपाती न होकर शत्रुओं का दृढ़ नाश करने-वाला होगा। आप इस अपने छोटे पुत्र और अपने हृदय के टुकड़े पर अब क्रोध न करें! इसमें इसका नहीं इसकी अवस्था का दोष है। बालपन में सभी दोष घेरे रहते हैं। इसीसे बालपन को नीति-कारों ने दोषों का आश्रय कहा है और इसीसे बालपन के

दोषों से बचाने के लिये ही बालकों को ब्रह्मचर्यव्रत तथा सद्‌गुरु द्वारा शिक्षा देने का नियम चला आता है। 'दैत्यराज ! यदि इस बार भी यह बालक हमारी शिक्षा से न सुधरेगा और आपकी आज्ञा की अवहेलना कर शत्रुओं का गुणानुवादी एवं राजद्रोही बना रहेगा तो हम लोग एक ऐसी 'कृत्या' को उत्पन्न करेंगे कि जो फिर किसी के लौटालने से भी न लौटेगी और इसको भस्म ही करके छोड़ेगी।'

पुरोहितों की प्रार्थना दैत्यराज ने स्वीकार कर ली और प्रह्लाद को पुनः पाठशाला में जाने के लिये आज्ञा दे दी। पुरोहितों के साथ प्रह्लादजी पुनः विद्यालय में पधारे और वहाँ उन्हें नीतिशास्त्र की शिक्षा दी जाने लगी।



इक्कीसवाँ अध्याय

दैत्य-बालकों को प्रह्लाद का उपदेश

नगर में घर-घर हरि-कीर्तन

कयाधू माता की चिन्ता और पिता का क्रोध



विद्यालय में पहुँच कर प्रह्लाद ने अपना कार्य फिर आरम्भ कर दिया। नगरभर में, विशेषकर विद्यार्थियों और बालकों में प्रह्लाद के प्रति बड़ी ही सहानुभूति तथा भक्ति दिखलायी देने लगी। गुरुवरों के सामने ही, ज्यों ही प्रह्लादजी पिता के यहाँ से छुटकारा पाकर विद्यालय में पहुँचे, त्यों ही सभी छात्रों ने आनन्द-ध्वनि की और उनका जय-जयकार मनाया। एक दिन गुरुजी अपने नित्यकर्म में लगे हुए थे, इधर विद्यार्थियों ने आकर प्रह्लादजी को चारों ओर से घेर लिया। कुछ विद्यार्थियों ने कहा कि—'राजकुमार ! अब आप अपने पिताजीसे हठ न करें, उनकी बातें मान लें। पिताजी सदा बने थोड़े ही रहेंगे, उनके बाद आपकी जैसी रुचि हो, वैसे ही कार्य करना। *'आत्मानं सर्वतो रक्षेत्'* की नीति से ही आपको काम लेना चाहिए।' किसी ने कहा कि—'भैया प्रह्लाद ! तुम्हारे ऊपर आक्रमणों का हाल सुन-सुन कर हम लोग तड़फ रहे थे, किन्तु तुम्हारे पिताजी के भय से हम लोग मुख से कुछ बोल नहीं सकते थे।' एक ने

कहा—'प्यारे प्रह्लाद ! तुम्हारे ऊपर होते हुए आक्रमणों का समाचार माताजी को आरम्भ में नहीं विदित हुआ; किन्तु जैसे ही उनको समाचार मिला, वे बेहोश होकर गिर पड़ीं और कई दिनों-तक उनका चित्त सावधान नहीं रहा।' इसके पश्चात् एक बालक जो भगवद्भक्ति में डूबा हुआ था, बोला—'मित्र ! इन सब चर्चाओं को बन्द करो, कुछ भगवत्सम्बन्धी चर्चा होने दो, जिससे हम सबका भविष्य सुधरे और जीवन सफल हो।' अपने प्रेमी सहपाठी बालकों की बातें प्रह्लादजी बड़े प्रेम से सुनते थे और मन-ही-मन यह सोचते थे कि अभी इनपर भगवान् की भक्ति का सच्चा प्रभाव नहीं पड़ा। अभी ये अधकचरे हैं अतएव इनको ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिसमें इनका और इन्हीं के द्वारा संसार का भी कल्याण हो।

प्रह्लाद—'हे भाइयो ! धन, जन, स्त्री-विलास आदि विषयों से शोभित यह जो मन को मोहित करनेवाला संसार का विभव है, भला विचार की दृष्टि से देखो तो कि ज्ञानियों के सेवन करने योग्य हैं अथवा त्याग करने योग्य हैं ! मित्रो ! प्राणी जब गर्भ में आता है तब विष्ठा, कृमि, मूत्र के बीच एक प्रकार के चर्मबन्धन में किस प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा बँधा रहता है और उसे कितने दुःख भोगने पड़ते हैं, इसका अनुमान आप लोग कर सकते हैं। उसके बाद बाल्य-अवस्था खेल-कूद में और माता-पिता एवं गुरु की परतन्त्रता में व्यतीत होती है, उसमें भी कोई आनन्द नहीं। युवा अवस्था में स्त्री के मायाजाल गार्हस्थ्य-जीवन के अपार भार से जो कष्ट

होता है, उसका अनुभव भुक्त-भोगी प्राणी ही भली भाँति कर सकता है। वृद्धावस्था तो मानों नाना प्रकार की आपत्तियों का आगार ही है, शरीर अशक्त एवं रोग से पीड़ित रहता है, और घर के लोग कोई भी उसकी बातों पर ध्यान ही नहीं देते। इधर अपमान और उधर ममता, इन दोनों के बीच यह अवस्था नारकीय यातनाओं का आदर्श बन जाती है। अतएव जीवन में कभी किसी भी अवस्था में सुख नहीं, किसीने कहा है '*सुख की तो बौछार नहीं है, दुख का मेह बरसता है।*' ऐसी दशा में आप लोग सोचें तो, यह संसार का असार वैभव मानव-जीवन के सेवन करने योग्य है या नहीं? प्रिय मित्रो! हम जैसे-जैसे अधिक विचार करते हैं वैसे-ही-वैसे यह संसार दुःखों की खानि ही प्रतीत होता है। इसीलिये ज्ञानी लोग इसके बन्धन से मुक्त होने के लिये व्याकुल रहते हैं। जो प्राणी इस माया-जाल की भयङ्करता नहीं जानते और इसमें मोहित हो जाते हैं वे ही इसमें फँसते और नीचे गिरते हैं। संसाररूपी अग्नि में पतङ्ग के समान प्राणी गिरते और अपने आप अपने अमूल्य जीवन को जलाकर खाक कर डालते हैं। बड़े अचरज की बात है कि लोग सुख की आशा में जान-बूझ कर दुःख भोगते हैं और अपना भविष्य अन्धकारमय बना देते हैं। भाइयो! अन्न न मिले तो चूनी-चोकर खाकर जीवन-यापन करना अनुचित नहीं, किन्तु समस्त सुखों के आधार भगवान् विष्णु के अभयदायक चरण-कमलों से विमुख होना सर्वथा अनुचित है। उन चरणों की सेवा में न कोई श्रम है, न

कष्ट है और न कोई बाधा है, उनको छोड़ जो संसार के विषयों में सुख समझ कर उनके पीछे भटकते हुए अपने प्राणतक गँवा देते हैं, वे वैसे ही मूर्ख हैं जैसे किसी के हाथ पर सारी पृथ्वी का साम्राज्य रख दिया जाय और वह उसे दूर फेंक कर दीन मन हो, अपने उदर भरने के लिये भिक्षा माँगता फिरे। अतएव मित्रो! अब व्यर्थ समय बिताना ठीक नहीं। तुम सब लोग स्वयं विष्णुभगवान् की भक्ति करो और अपने हित-मित्र एवं सम्बन्धियों को भी भक्त बनाने का प्रयत्न करो। रात-दिन उन भव-भय-हारी मुरारी का ध्यान करो। वे तुम लोगों की सदा रक्षा करेंगे और तुम्हारे परम अर्थ की सिद्धि होगी। अब मैं सबका सारांश कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। आस्तिक भाव के साथ तुम लोग सारे जगत् के प्रति प्रीति रख, किसीके प्रति भी वैर-भाव न रक्खो। यही सबसे बड़ी भगवद्भक्ति है।'

उपदेश समाप्त करते हुए प्रह्लादजी ने कहा कि 'सम्भव है अब तुम हम सब फिर एक स्थान पर इस प्रकार न मिल सकें, किन्तु तुम्हारा-हमारा चित्त एक रहना चाहिए। मेरा उपदेश तुम भूलना नहीं। मेरी प्रार्थना तुम लोगों ने सुनी और मानी है यह मैं तभी समझूँगा जब कि कल से ही सारा नगर प्रातः और सायङ्काल 'हरि-कीर्तन' की गगन-भेदी मधुर-ध्वनि से गूँज उठेगा। प्रह्लादजी के उपदेशों को सुन कर असुर-बालकों ने कहा, अवश्य ही हम लोग आपके उपदेशानुसार ही कार्य करेंगे। अन्त में बालकों ने नित्य के समान ही अपना हरि-कीर्तन आरम्भ किया। सब लोग हरि-कीर्तन में

मग्न थे। इसी बीच में गुरुपुत्र षण्ड और अमर्क आ गये। गुरुपुत्रों के क्रोध की सीमा न रही, हरि-कीर्तन सुन उनको बड़ा रोष आया और उन लोगों ने बालकों को बहुत कड़ी ताड़ना दी तथा प्रह्लाद से कहा कि 'रे मूर्ख राजकुमार! क्या तेरा काल ही आ गया है? जिसको अपने प्राणों का भय नहीं, उसे हम क्या कहें? तू न जाने इस दैत्यकुलरूपी चन्दन-वन में कहाँ से बबूर के वृक्ष के समान उत्पन्न हो गया। तेरी माता हम लोगों से बारम्बार तेरी प्राणरक्षा के लिये प्रार्थना करती है, किन्तु तेरी मूर्खता के कारण हम लोग अब तेरे प्राणों की रक्षा करने में असमर्थ हैं। तेरी माता को आज हम तेरे इस काण्ड का समाचार भेज देते हैं। तदनन्तर हम लोग अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कृत्याद्वारा तेरा बध करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।'

गुरुओं ने प्रह्लाद का सारा वृत्तान्त महारानी कयाधू के पास एक विश्वासपात्र छात्र द्वारा कहला भेजा। वृत्तान्त ले जाने-वाले को यह बात समझा दी गयी कि यह सन्देश महारानी को ही एकान्त में सुनाया जाय, दैत्यराज को इसकी खबर न होने पावे। छात्र ने वैसा ही किया। महारानी कयाधू सन्देश को पाकर व्याकुल हो उठीं और तुरन्त ही दैत्यराज की आज्ञा ले पुत्र से मिलने के लिये पाठशाला में जा पहुँचीं। ब्रह्मचारी प्रह्लाद पढ़ रहे थे, किन्तु माताजी को आयी देख सहसा उठ खड़े हुए और सादर उन्हें प्रणाम किया। माता ने प्रिय पुत्र को सस्नेह आशीर्वाद देकर हृदय से लगा लिया और प्रेमाश्रुओं की धारा से उसके

मस्तक को सींचने लगीं। तदनन्तर गुरु के चरणों में प्रणाम कर महारानी उनकी आज्ञा से प्रह्लाद को एकान्त में ले गयीं और बड़ी चिन्ता और व्याकुलता के साथ पुत्र को इस प्रकार समझाने लगीं।

महारानी कयाधू—'बेटा प्रह्लाद! अब तुम्हारा बालपन बीत गया, तुमको कुछ ही दिनों बाद राज्यभार अपने ऊपर लेना है। अतएव बड़ी सावधानी से काम करना चाहिए। तुम अपने पिताजी के स्वभाव की उग्रता, हठीलापन और आज्ञा न माननेवालों के प्रति हृदय की निर्दयता आदि से परिचित हो, अतएव तुम्हें उनकी आज्ञा के विरुद्ध नहीं चलना चाहिए। मैं तुमको हरिभक्ति करने से नहीं रोकती, किन्तु इतनी भिक्षा माँगती हूँ कि, मेरे जीते जी तुम उन्हें असन्तुष्ट करके मेरा अकल्याण न करो। बेटा! यह बात तुमसे छिपी नहीं है कि मेरा हृदय तुमको देखे बिना अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। जब मैं तुम्हारे ऊपर मार पड़ने के समाचार सुनती हूँ तो मेरे हृदय की गति रुक जाती है और मुझे संसार अन्धकारमय प्रतीत होने लगता है। बेटा! तुमने कहा था कि 'माता! तुम डरो नहीं, जब पिताजी मुझसे कहेंगे तब मैं उनको समझा लूँगा।' अब वही समय आ गया है। परन्तु जब तुम्हारे समझाने पर भी वे नहीं समझे तो अब तुमको ही अपना हठ छोड़ देना चाहिए। बेटा! एक ओर जिसको मैंने अपने प्राणों से अधिक माना वह मेरे रक्त से सींचा हुआ कोमल पौधा तू प्रह्लाद है और दूसरी ओर मेरे ईश्वरस्वरूप प्राणपति

दैत्यराज हैं। तुम दोनों के झगड़ों में मेरी कैसी शोचनीय दशा हो रही है। बेटा! इस बात को तुम ही एक बार सोचो। एक पतिव्रता पत्नी और पुत्रवत्सला माता की पिता-पुत्र के वैरभाव में, नहीं, नहीं, दोनों के जीवन-मरणवाले वैरभाव में कैसी सङ्कटापन्न दशा हो सकती है यह तुम जानते हो। इस अवस्था के उत्पन्न करनेवाले भी बेटा! तुम ही हो। इसीसे मैं तुमसे प्राण-भिक्षा माँगती हूँ। तुम मुझपर दया करो। प्रिय पुत्र! संसार को तुम दया की दृष्टि से देखते हो, संसार के कष्टों को मिटाने के लिये तुम सब कुछ करते हो किन्तु जिस माता ने तुमको अपने हृदय में रक्खा, अपना दूध पिला कर पाला और इसी आशा से पाला कि वृद्धावस्था में तुम मेरी रक्षा करोगे, मरने पर साम्परायिक कर्म द्वारा उद्धार करोगे? क्या उसके प्रति तुम्हारा यही कर्तव्य है? क्या तुम्हारा यही धर्म है कि तुम उस माता को विपत्ति में डालो और पिता से विरोध करो। प्रह्लाद! तुम विष्णु-भक्ति नहीं छोड़ना चाहते हो तो न छोड़ो; किन्तु दैत्यराज को चिढ़ानेवाले काम तो मत करो। उनको उपदेश देने की अपेक्षा उनकी ही बातें सुनो। यदि तुमको उनकी बातें प्रिय न हों तो न मानो, किन्तु उनके सामने तो उनकी बातों को अस्वीकार न करो। यह मेरी शिक्षा यदि तुम न मानो तो लो इस तलवार से मेरा सिर काट धड़ से अलग कर दो। मैं तुम्हारे और तुम्हारे पिता के पहले ही तुम दोनों की मूर्तियों को हृदय में रख कर मरना चाहती हूँ। यदि तुम मेरी बातें नहीं मानोगे तो मैं आत्महत्या करके नरकगामिनी बनूँगी। बेटा! क्या तुम यही चाहते हो?'

स्नेहमयी व्याकुलहृदया जननी की शोकभरी बातें सुन कर दृढनिश्चयी प्रह्लाद विनम्र भाव से माता को सान्त्वना देते हुए बोले कि–'माताजी ! तुम इतनी बड़ी बुद्धिमती होकर भी साधारण स्त्रियोंके सदृश अजान की-सी बातें कैसे करती हो ? तुम घबड़ाती क्यों हो ? न तो मेरे पिताजी मेरे शत्रु हैं, न मैं ही उनका शत्रु हूँ। उनका क्या, मैं तो किसीका भी शत्रु नहीं हूँ। हम दोनों के बीच कोई भी झगड़ा-फसाद नहीं है। तुम जो देखती हो सो यह तो एक स्वाभाविक घटना है। जब रोगी को रोग-शान्ति के लिये ओषधि दी जाती है तब रोग के परमाणुओं से ओषधि के परमाणुओं का युद्ध अथवा सङ्घर्ष होता ही है, पर उनमें कोई किसीका शत्रु नहीं होता। इसी प्रकार मेरे और पिताजी के विचारों का सङ्घर्ष है। इसका परिणाम अच्छा ही होगा। तुम चिन्ता न करो। मा ! तुम सुशिक्षिता होकर भी क्यों अजान बन रही हो ? मैं, तुम और पिताजी ही नहीं, सब-के-सब जीव अजर और अमर हैं। शरीर तो सभी के नाशवान् हैं। अमर मर नहीं सकता और नाशवान् रह नहीं सकता। चाहे वह आज नाश हो और चाहे चार दिन के बाद। फिर ऐसे निश्चित सिद्धान्त को भुला कर तुम न सोचने की बात का सोच क्यों कर रही हो ? जाओ, माताजी जाओ, शान्ति के साथ हरि-भजन करो। वह तुम्हारा कल्याण करेंगे।'

पुत्र की बातें सुन महारानी कयाधू को विश्वास हो गया कि प्रह्लाद माननेवाला नहीं। अतएव इसको समझाने की अपेक्षा दैत्यराज को ही समझा लेना कदाचित् सरल और सम्भव हो।

प्रह्लाद को हृदय से लगा कर अश्रु-पूर्ण नेत्रों से कयाधू ने विदा माँगी। प्रह्लाद ने साष्टाङ्ग प्रणाम कर माता को विदा किया। महारानी कयाधू प्रह्लाद से विदा हो गुरुजी के समीप गयीं और उनसे प्रह्लाद की सारी बातें कह सुनायीं। साथ ही उन्होंने अपनी इच्छा दैत्यराज से कहने की भी प्रकट की। गुरुजी ने उनकी इच्छा की पुष्टि की और कहा कि इसके लिये आप शीघ्रता करें, क्योंकि प्रह्लाद की बातें दैत्यराज तक पहुँचने में विलम्ब नहीं है। गुरु के चरणों में प्रणाम कर महारानी कयाधू विदा हुईं। गुरुवरों ने आशीर्वाद दिया।

इधर महारानी कयाधू अन्तःपुर में पहुँची ही थीं कि उधर दैत्यराज के गुप्त दूतों ने प्रह्लाद की सारी कथा दैत्यराज को सुना दी। दैत्यराज को बड़ा क्रोध आया और उसने अपने सूपकारों (रसोइयों) को बुला कर कहा कि, आज प्रह्लाद के लिये जो भोजन जाय उसमें ऐसे-ऐसे कठिन विष मिला कर देना जिसमें उसको खाते ही वह सदा के लिये शान्त हो जाय। किन्तु खबरदार! उसको विष का पता न लगने पावे। तुम लोग विषवाले भोजन को देकर उससे कहना कि, यह तुम्हारी माताजी ने तुम्हारे लिये भेजा है, क्योंकि उसकी माता के प्रति बड़ी भक्ति है और माता के नाम से उसको विष का सन्देह ही न होगा। सूपकारों ने वैसा ही किया। वे महाविष-मिश्रित मोदक लेकर गये, और उन्होंने प्रह्लाद से कहा कि 'माताजी ने इन मोदकों को तुम्हारे लिये भेजा है।' प्रह्लाद ने माता के प्रेम का आदर करते हुए उन विषभरे लड्डुओं

को भगवान् के अर्पण कर खा लिया, परन्तु इससे अकाल-मृत्यु-हरण भगवान् के चरणारविन्द के प्रेमी भक्त का बाल भी बाँका नहीं हुआ। सूपकारों ने विष का परिणाम जानने के लिये कुछ समय तक वहाँ ठहर कर प्रतीक्षा की। किन्तु जब प्रह्लाद पर कोई असर नहीं हुआ तब आश्चर्यचकित हो सारी कथा जाकर दैत्यराज को सुनायी। इधर सूपकारों ने अपनी कथा सुनायी और उधर राजदूतों ने आकर फिर अपना रोना रोया। राजदूतों ने कहा कि 'महाराज! अब अति हो गयी है। नाथ! जिस विष्णुनाम के एक बार उच्चारण करने के अपराध में हम लोगों ने असंख्य ब्राह्मणों को मार डाला है, अब नगरभर के बालक उसी विष्णु के नामों का प्रातःकाल और सन्ध्याकाल नित्य ही कीर्तन करते हैं। यदि आप उन बालकों को दण्ड देंगे तो आपके भाई-बन्धु और सेना के ऊँचे-ऊँचे कर्मचारी सब बगावत कर बैठेंगे क्योंकि वे सब उन्हीं लोगों के लड़के हैं और यदि आप दण्ड नहीं देंगे तो यह रोग, आगे चल कर घोर राजद्रोह का रूप धारण कर लेगा।'

गुप्त-दूतों की बातें सुन दैत्यराज ने पुरोहितों के पास एक दूत भेज कर कहला दिया कि 'प्रह्लाद का शत्रुपक्षी विष दिनों-दिन बढ़ रहा है, उसके प्रभाव और शिक्षा से नगर के लड़के हरि-कीर्तन करने लगे हैं। नगरभर के लड़कों के वध की अपेक्षा केवल प्रह्लाद का वध उचित और सरल है। अतएव अब आप लोग अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'कृत्या' उत्पन्न करके उसका तुरन्त बध कर डालें। सावधान! इस आज्ञा के पालन में विलम्ब न हो। यदि इस आज्ञा की तुम लोग किसी अंश में अवहेलना करोगे तो तुम लोगों को हम

इस राजद्रोहप्रचार का कारण समझेंगे और उस दशा में बिना किसी रू-रियायत के कठोर दण्ड दिया जायगा।'

आचार्यों के पास आज्ञा भेज कर दैत्यराज क्रोध और क्षोभ के आवेश में बैठे ही थे कि, इतने में समाचार मिला कि महारानी कयाधू आ रही हैं। दैत्यराज ने समझा कि असमय में महारानी के आने का कारण कदाचित् प्रह्लाद की रक्षा की बात हो। इतने ही में सभा में महारानी जा पहुँचीं। महारानी के आते ही सभासदों ने उठ कर उनका उचित स्वागत किया। तदनन्तर महारानी दैत्यराज को सादर प्रणाम कर अपने नियत स्थान पर जा बैठीं।

दैत्यराज—'प्रिये! इस समय तुम कैसे आयीं? क्या कोई विशेष कारण उपस्थित है?'

महारानी—'हाँ, कारण तो विशेष है किन्तु नाथ! आपके चरणों की कृपा से वह विशेष भी साधारण ही हो जायगा।'

दैत्यराज—'वल्लभे! क्या तुम कुछ कहना चाहती हो? क्योंकि तुम्हारे आधी बात कह कर चुप हो जाने से जान पड़ता है तुम अपनी बात इस सभा में नहीं कहना चाहती।'

महारानी—'हाँ, प्राणपति! कुछ ऐसी ही बातें हैं कि जो केवल आप ही की सेवा में कहने योग्य हैं।'

महारानी के साथ दैत्यराज सभा के एकान्त भवन में गये और वहाँ जाकर महारानी ने दैत्यराज के चरणों को पकड़ कर प्रह्लाद के प्राणों की रक्षा के लिये भिक्षा माँगी। बारम्बार अस्वीकार करने पर जब महारानी कयाधू ने हठ नहीं छोड़ा, तब दैत्यराज को क्रोध आ गया। दैत्यराज पहले ही से क्रोध और क्षोभ में व्याकुल थे,

फिर महारानी कयाधू के हठ ने उसको दूना कर दिया। क्रोध-वश दैत्यराज ने महारानी की पीठ पर एक लात मारी। बेचारी रोती हुई पुत्र-वात्सल्य और पातिव्रत के भावों से परिपूर्ण दुखी हृदय को लेकर अपने अन्तःपुर को चली गयी।

इसी प्रसङ्ग में पुराणान्तर की कथा है कि जिस समय दैत्यराज ने साध्वी सती स्त्री कयाधू को लात मारी, उसी समय कैलास पर महारानी सती का आसन डोल उठा। सतीजी ने अपनी प्रियतमा सखी विजया के पूछने पर आसन डोलने का कारण बतलाया। जगन्माता सती ने कहा—'हतभाग्य हिरण्यकशिपु ने अपनी परम सती साध्वी स्त्री कयाधू को लात मार कर मेरा घोर अपमान किया है। इसी कारण मेरा आसन डोल उठा है।' विजया ने देखा तो जगन्माता सती के पीठ पर पदाघात का चिह्न पड़ा है। महादेवजी के पूछने पर सती ने पदाघात के चिह्न का कारण बतलाया और कहा 'नाथ! आप क्या यह नहीं जानते कि जगत् की सारी सती स्त्रियाँ मेरा ही अंश हैं। '*स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु*' को कौन नहीं जानता? अतएव किसी भी सती स्त्री का अपमान मेरा अपमान है और उसका सम्मान मेरा सम्मान है।'

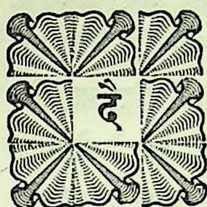
बात कुछ भी हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सती स्त्रियों का वास्तव में बड़ा ही ऊँचा पद है। इस बात का ध्यान न रख कर जो उनका अपमान करते हैं, उनको दैत्यराज हिरण्यकशिपु से ही हम तौल सकते हैं और उनका कदाचित् परिणाम भी उससे अच्छा न होता होगा।

बाईसवाँ अध्याय

विद्यालय में कृत्या की उत्पत्ति

प्रह्लाद की दयालुता

राजसभा में तीसरी बार प्रह्लाद का बुलावा



त्यराज की आज्ञा पाते ही आचार्यपुत्रों ने प्रह्लाद को अपने पास बुला कर उनसे कहा—'हे राजकुमार ! तीनों लोक में विख्यात ब्रह्मकुल में तुमने जन्म लिया है और दैत्यराज हिरण्यकशिपु तुम्हारे पिता हैं। किसी देवता, अनन्त भगवान् अथवा और किसीके आश्रयी बनने की तुमको क्या आवश्यकता है ? तुम्हारे पिताजी स्वयं तीनों लोक के स्वामी हैं और तुम भी एक दिन उत्तराधिकार द्वारा तीनों लोक के स्वामी बनोगे। अतएव विपक्षी लोगों की स्तुति छोड़, अपने पिता की आज्ञा को सुनो। पिता समस्त गुरुओं के गुरु हैं। अतः तुम उन्हींकी आज्ञा का अनुसरण करो।'

प्रह्लाद—'आचार्यचरण ! आपने अधिकांश बातें यथार्थ ही कही हैं। मेरा कुल महर्षि मरीचि का जगत्-विख्यात कुल है, पिता का प्रभुत्व भी यथार्थ ही है और पिता परम गुरु हैं यह भी मिथ्या नहीं है, किन्तु आपने जो अनन्त भगवान् के आश्रय की अनावश्यकता बतलायी, सो ठीक नहीं है। गुरुजी, आप यदि क्रुद्ध न हों और मेरे अपराध को क्षमा करें, तो मैं यह बतलाऊँ कि केवल मुझको ही नहीं, प्रत्युत सभी प्राणियों को भगवान् अनन्त के आश्रय की कितनी बड़ी आवश्यकता और

उनके आश्रय से कितना बड़ा कल्याण होता है ? जिन अनन्त भगवान् से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनके आश्रय की आवश्यकता वास्तव में क्या बतलायी जाय ? महर्षि मरीचि, दक्षप्रजापति तथा अन्यान्य ऋषियों ने अपने-अपने तपोबल से अर्थ, धर्म तथा काम की प्राप्ति की है परन्तु उनमें से अन्त में कुछ लोगों ने समाधि-ध्यान द्वारा अनन्त की आराधना करके ही तत्त्वज्ञान होने पर मुक्ति प्राप्त की है। सारांश यह कि, त्रिवर्ग के देनेवाले भले ही अनेक हों, किन्तु चतुर्वर्ग के देनेवाले तो एकमात्र भगवान् अनन्त ही हैं। उनके आश्रय की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी सन्देह हो, तो बड़े अचरज की बात है। मैं तो अल्पबुद्धि बालक हूँ, किन्तु आप विद्वान् हैं। आप जो कुछ कहते हैं, वही यथार्थ होना चाहिए। किन्तु मेरे विवेक में तो यही आता है कि सबसे बड़ा आश्रय भगवान् अनन्त का ही है।'

षण्ड और अमर्क–'बेटा प्रह्लाद ! ये हमारे अन्तिम वचन हैं। अब हमारा-तुम्हारा गुरु-शिष्य का सम्बन्ध छूटता है और यदि अब भी तुम हमारी आज्ञा मान कर विष्णु की चर्चा नहीं छोड़ोगे तो हम 'कृत्या'* को उत्पन्न करके तुमको भस्म कर देंगे।'

प्रह्लाद–'हे गुरुवर ! आप लोग बुद्धिमान् होकर मुझको क्यों भ्रम में डालते हैं ? भला, बतलाइये तो, कौन किसको मार सकता है और कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? मारने और रक्षा करने-

---

* मारण के प्रयोग में एक मन्त्र द्वारा उत्पन्न की गयी राक्षसी होती है, जो मृत्यु के समान ही भयानक होती है।

वाला तो आत्मा ही है जो अपने आप, 'असाधु' और 'साधु' कर्म द्वारा अपने को मारता और अपनी रक्षा करता है।'

प्रह्लादजी का उत्तर सुन पुरोहितों का क्रोध सीमोल्लंघन कर गया और उन्होंने तुरन्त ही मन्त्रबल से एक महान् विकराल ज्वाला-मयी 'कृत्या' को उत्पन्न किया। कृत्या ने क्रुद्ध होकर प्रह्लादजी की छाती में एक शूल मारा, परन्तु जिनके हृदय में भक्त-भय-हारी सर्व शक्तियों के आधार भगवान् विष्णु विराजते हैं उनका 'कृत्या' के शूल से क्या बिगड़ सकता था ? शूल प्रह्लाद के वज्र-हृदय में लगते ही टूक-टूक हो गया और सैकड़ों टुकड़ों में परिणत होकर भूमि पर गिर पड़ा। प्रह्लाद के ऊपर जब कृत्या का आघात सफल नहीं हुआ, तब उसने अपने उत्पन्न करनेवाले पुरोहितों पर आक्रमण किया और उनका बध कर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने हेतु से पुरोहितों का मरना प्रह्लाद के लिये असह्य हो गया, दयार्द्रहृदय प्रह्लाद ने कातर कण्ठ से अपने मारनेवालों के लिये परमात्मा से दया-भिक्षा की याचना करते हुए कहा—

सर्वव्यापिन् जगन्नाथ ! जगत्स्रष्टर्जनार्दन।
त्राहि विप्रानिमानस्माद्दुःसहान्मन्त्रपावकात् ॥
यथा सर्वेषु भूतेषु जगद्व्यापी जगद्गुरुः।
विष्णुरेव तथा सर्वे जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥

(विष्णु० १। १८। ३९-४०)

अर्थात् 'हे सर्वव्यापी जगन्नाथ ! हे जगत्स्रष्टा जनार्दन ! आप इन विप्रों की इस दुःसह मन्त्ररूपी अग्नि से रक्षा करें। जिस

प्रकार समस्त भूतों में आप जगद्व्यापी जगद्गुरु—विष्णु अवस्थित हैं, उसी प्रकार आप इन ब्राह्मणों में भी हैं, अतएव ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' इतनी स्तुति करने पर भी जब पुरोहित लोग नहीं उठे तब प्रह्लाद ने फिर कहा—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानो न पापकम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(विष्णु० १।१८।४१-४३)

अर्थात् 'यदि मैं आप विष्णुभगवान् को सर्वगत अनुभव करके शत्रुपक्ष में भी अनिष्ट होना नहीं सोचता तो ये पुरोहित जीवित हो जायँ। जो मुझे मारने आये, जिन्होंने विष दिया, आगमें जलाया, जिन दिग्गजों ने मुझे रौंदा और जिन सर्पों ने मुझे डँस लिया, उन सबको यदि मैं मित्र समझता होऊँ और उनका मैं किञ्चित् भी अनिष्ट न चाहता होऊँ तो इसी सत्य के प्रभाव से हे भगवन्! ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' धन्य क्षमा के सागर भक्तवर प्रह्लाद! और धन्य तुम्हारी भक्ति का अनुपम आदर्श!

सत्यवादी, अहिंसामय, सर्व भूतों में विष्णुदर्शी प्रह्लाद की स्तुति समाप्त होते ही भगवत्कृपा से पुरोहित उठ बैठे और परम प्रसन्न होकर कृतज्ञ-हृदय से प्रह्लादजी को आशीर्वाद देने लगे—

दीर्घायुरप्रतिहतबलवीर्यसमन्वितः ।
पुत्रपौत्रधनैश्वर्ययुक्तो वत्स भवोत्तम ॥
(विष्णु० १ । १८ । ४५)

अर्थात् 'बेटा प्रह्लाद ! तुमने हमारे प्राण बचाये हैं इसलिये तुम दीर्घायु होओ। तुम्हारा बलवीर्य अप्रतिहत—किसीके जीतने योग्य न हो। हे उत्तम विचार के बालक ! तुम पुत्र, पौत्र एवं धन-ऐश्वर्य से युक्त होकर सदा सुखी रहो।'

पुरोहितों ने आशीर्वाद दे दैत्यराज के पास जाकर उनको सारा वृत्तान्त सुनाया। दैत्यराज ने पुरोहितों के वचनों को सुन कर प्रह्लाद को राजसभा में बुलवाया। प्रह्लाद ने जाकर अपने पिताजी को तथा पूज्य जनों को सादर प्रणाम किया। पिता की आज्ञा से प्रह्लाद के आसन पर बैठ जाने के अनन्तर दैत्यराज ने उनसे कहा कि—

प्रह्लाद ! सुप्रभावोऽसि किमेतत्ते विचेष्टितम् ।
एतन्मन्त्रादिजनितमुताहो सहजं तव ॥
(विष्णु० १ । १९ । २)

अर्थात् 'हे प्रह्लाद ! तुम बड़े प्रभावशाली हो, भला यह तो बतलाओ कि तुम्हारे यह जो अद्भुत चरित्र दिखलायी देते हैं, ये सब मन्त्र-तन्त्रादिजनित कार्य हैं अथवा यह तुम्हारा स्वाभाविक प्रभाव है ?'

प्रह्लादजी ने दैत्यराज के प्रश्नों के उत्तर में कहा कि—

न मन्त्रादिकृतं तात न च नैसर्गिकं मम ।
प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि ॥
अन्येषां यो न पापानि चिन्तयत्यात्मनो यथा ।
तस्य पापागमस्तात हेत्वभावान्न विद्यते ॥

कर्मणा मनसा वाचा परपीडां करोति यः ।
तद्बीजं जन्म फलति प्रभूतं तस्य चाशुभम् ॥
सोऽहं न पापमिच्छामि न करोमि वदामि च ।
चिन्तयन् सर्वभूतस्थमात्मन्यपि च केशवम् ॥
शारीरं मानसं दुःखं दैवं भूतभवं तथा ।
सर्वस्य शुभचित्तस्य तस्य मे जायते कुतः ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥
(विष्णु० १।१९।४-९)

अर्थात् 'हे पिताजी ! जिन कार्यों को आप अचरज की दृष्टि से देखते हैं ये न तो किसी मन्त्र-यन्त्र आदि के द्वारा किये गये हैं और न इनमें मेरे व्यक्तित्व का ही नैसर्गिक प्रभाव है; प्रत्युत यह प्रभाव उन सभी प्राणियों में रहता है, जिनके हृदय में भगवान् अच्युत विराजमान होते हैं। जो प्राणी दूसरों का अनिष्ट करना नहीं चाहते और दूसरों के कष्ट को अपने ही कष्ट के समान जानते हैं, उनके ऊपर किये गये आक्रमण उनको कष्टदायी नहीं होते, क्योंकि उनके अन्दर कष्ट के हेतु का अभाव रहता है। जो मनुष्य मन, वचन और कर्म से दूसरों को पीड़ा देनेवाले कर्म करते हैं, उनके कर्मरूपी बीज के वृक्ष का फल अत्यन्त अशुभ होता है। मैं न तो किसी को कष्ट देने की इच्छा करता हूँ, न कष्ट देनेवाला काम करता हूँ और न ऐसी बात ही कहता हूँ जिससे किसीको कष्ट पहुँचे। क्योंकि मैं जैसे अपने अन्दर भगवान् का अस्तित्व मानता हूँ वैसे ही समस्त प्राणियों में उनका अस्तित्व समझता हूँ। इसलिये मुझ-जैसे सबके

शुभचिन्तक को शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक दुःख कैसे हो सकते हैं ? अतएव भगवान् हरि को सर्वभूतमय जान कर अपना हित चाहनेवाले सभी लोगों को खास करके सज्ञान मनुष्यों को तो 'सर्वभूतहितैषितारूप' भगवान् की अव्यभिचारिणी भक्ति अवश्य करनी चाहिए ।'

प्रह्लादजी के युक्तियुक्त उपदेशमय धार्मिक वचन दैत्यराज के हृदय में तीक्ष्ण वाणों के समान लगे। कुछ समय तक क्रोध और चिन्ता में चुप रहने के पश्चात् वह अपने मन्त्री की ओर देख कर कहने लगा—'अब यह रोग असाध्य हो गया है। इसकी ओषधि करना ठीक नहीं। हमने जितना ही पुत्र-वात्सल्य प्रदर्शित किया, उतना ही उसका बुरा परिणाम हुआ। अब इस बालक का—नहीं-नहीं, इस दैत्य-कुलाङ्गार का अन्त कर देने ही में हमारा भला है। हे असुरवीरो ! इसी समय इसको इस सतमञ्जिले महल के ऊपर से इस प्रकार नीचे पटको कि जिसमें इसकी एक-एक हड्डी चूर हो जाय।' दैत्यराज की आज्ञा मिलते ही असुरों ने बड़े हर्ष एवं क्रोध के साथ प्रह्लाद को उठा कर प्रासाद के ऊपर से इतने ज़ोर से फेंका, कि जिसमें नीचे गिरने पर उनका नाम-निशान तक शेष न रह जाय, किन्तु जिन प्रह्लाद के हृदय में जगत् को धारण करनेवाले भगवान् केशव विद्यमान हैं, जो सर्वत्र अपने प्रियतम भगवान् को देखते हैं उनके लिये तो सारा संसार समान है, वहाँ ऊँचे-नीचे का भाव कहाँ है ? वे गिरें तो कैसे और कहाँ गिरें तथा उनके शरीर पर आघात लगे तो किसका ? जैसे ही प्रह्लाद के रूप में जगद्धाता भगवान् केशव को

जगद्धात्री माता पृथ्वी ने ऊपर से आते देखा वैसे ही उसने उछल कर उनको अपनी गोद में ले लिया। प्रह्लाद पूर्ववत् स्वस्थ होकर प्रासाद के नीचे प्रसन्न-वदन खड़े हो गये और तन्मय होकर भगवान् का ध्यान करने लगे। यह अद्भुत लीला देख कर दैत्यराज के हृदय में बड़ा विस्मय उत्पन्न हुआ। उसने समझा कि, अवश्य ही इसमें कोई जादू है, अतएव उसने अपने जादूगर—मायावी शम्बर नामक असुर से कहा कि—'इस बालक में मायाजाल मालूम पड़ता है। मैंने इसको मारने की अनेक चेष्टाएँ कीं, किन्तु यह अब तक अपनी माया से बचता जा रहा है। आप माया के आचार्य हैं। अतएव अब इसकी माया को भली भाँति समझ कर अपने मायाबल से शीघ्र ही इसका बध कर डालिये।'

दैत्यराज की आज्ञा पाते ही शम्बर ने अपनी माया से प्रह्लाद को मारने की न जाने कितनी असफल चेष्टाएँ कीं। कभी वह उनको आकाश में उड़ा ले जाता, तो कभी तलातल में जा घुसता था, कभी शीत उत्पन्न करके प्रह्लाद को यों ही ठण्डा कर देना चाहता तो कभी बारहों सूर्य के तेजपुञ्ज के समान भयानक अग्नि-ज्वाला उत्पन्न करके उसमें उन्हें भस्म करने की चेष्टा करता था। कभी एकदम वायु को बन्द कर प्रह्लाद की दम घोंट देना चाहता था, तो कभी ऐसी तेज हवा उत्पन्न करता था कि जो प्रह्लाद के शरीर को न केवल सुखा दे प्रत्युत उसके एक-एक परमाणु को ले जाकर न जाने कहाँ फेंक दे। इस प्रकार शम्बर ने मायाबल से बहुत-से उपाय किये, किन्तु जिन प्रह्लाद के हृदय

में महामायेश्वर भगवान् विष्णु स्वयं विराजमान हैं, शम्बर-सरीखे दैत्यों की लाखों माया उनका क्या कर सकती हैं ? शम्बर की माया का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। उसके उत्पन्न किये वायु को भगवान् विष्णु ने ऐसे पान कर डाला कि उसका कहीं पता भी न रह गया। ऐसी विलक्षण माया भी जब न चल सकी तब दैत्यराज की चिन्ता और अधिक बढ़ गयी। दैत्यराज ने विचार किया कि अब इससे अधिक छेड़-छाड़ करना ठीक नहीं। इसके सुधारने अथवा मारने का उपाय आचार्य शुक्रजी ही कर सकेंगे। अब यह दूसरे के बूते की बात नहीं रही। इसी विचार से दैत्यराज ने अपने पुरोहितों से कहा कि—'अब आप लोग इसको अपने साथ ले जाइये और जब तक आचार्यजी तीर्थयात्रा से लौट कर नहीं आवें तब तक वहीं बड़ी सावधानी के साथ रखिये। समय-समय पर इसे राजनीति की शिक्षा देते रहिये, परन्तु इसपर किसी मन्त्र-यन्त्र का प्रयोग करने की चेष्टा भूल कर भी न कीजिये। अवश्य ही इसको असुर-सैनिकों के पहरे में रखिये, जिससे यह किसी बाहरी आदमी से मिलने न पावे। सम्भव है दिन पाकर इसकी मति बदले। नहीं तो आचार्यजी आने पर इसको ठीक कर लेंगे। यदि उनके सुधारने पर भी यह न सुधरेगा तो वे इसको तुरन्त मार डालेंगे। उनके सामने इसकी एक भी माया न चलेगी।' हिरण्यकशिपु के इतना कहने पर प्रह्लाद अपने गुरुवरों के साथ पुनः विद्यालय को चले गये।



तेईसवाँ अध्याय

भक्तवत्सल भगवान् का दर्शन

प्रह्लाद को वरदान

चतुर्थ बार राजसभा में प्रह्लाद की परीक्षा

प्रह्लाद के प्रति पिता का प्रेम



प्रह्लादजी इस बार गुरुकुल में राजनीति की शिक्षा पाने लगे और उनके सहपाठी दैत्यबालक भगवद्भक्ति के रहस्यों की शिक्षा में लीन होने लगे। गुरुओं को राजकुमार की बुद्धि-प्रखरता देख, बड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगों ने समझा कि अब ये राजनीति के चक्कर में पड़ कर भक्ति-भावना को भूल गये हैं। जब-जब गुरुवरों ने प्रह्लाद की परीक्षा ली तब-तब उन्हें राजनीति में पूरा पण्डित पाया। अतएव षण्ड और अमर्क अब फूले नहीं समाते थे। उन लोगों ने समझा कि इस बार राजकुमार के पिताजी से हमको पूरा-पूरा पारितोषिक मिलेगा। इसी आनन्द में एक दिन दोनों राजपुरोहित प्रह्लाद को साथ लेकर राजदरबार में जा पहुँचे। उस समय की राजसभा का वर्णन पुराणों में बड़ा ही मनोहर और विस्तृत किया गया है। सभा की शोभा, उसके अङ्गोपाङ्ग-स्वरूप उपवनों, सरोवरों, निर्झरनों और उनमें विहार करनेवाले तरह-तरह के पक्षियों एवं पालतू वनचरों की शोभा, सभाभवन

की सजावट, उसके उपकरणों की सुषमा तथा सभासदों एवं सभा में बैठे हुए असुर-वीरों का ऐसा सुन्दर वर्णन किया गया है कि जिसको यहाँ पर सविस्तर पूर्णरीत्या उद्धृत करने का अवकाश नहीं है; किन्तु इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि जिस दैत्यराज के अधीन तीनों लोक और चौदहों भुवन हों, जिसके सामने आठों सिद्धि और नवों निधि हाथ जोड़े खड़ी रहती हों तथा जिसके कारागार में देवराज इन्द्र एवं धनपति कुबेर आदि दिक्पाल बन्दी बन रहे हों, उसके ऐश्वर्य तथा उसकी सभा की शोभा का वर्णन करना ही व्यर्थ है। पुराणों में जो वर्णन किया गया है * वह भी अधूरा ही होगा। पूरा-पूरा वर्णन करना तो असम्भव ही है।

राजसभा ठसाठस भरी हुई थी। उसी समय राजकुमारसहित दोनों राजपुरोहित वहाँ जा पहुँचे। राजकुमार के सहित पुरोहितों को देख सारी सभा आनन्दित हो उठी और उनके स्वागत में सब सभासद् सहसा उठ खड़े हुए। राजकुमार ने दैत्यराज के चरणों में विनीत भाव से साष्टाङ्ग प्रणाम किया तथा अन्यान्य सभासदों के प्रति भी यथोचित सम्मान प्रदर्शित किया। हिरण्यकशिपु ने राज-पुरोहितों को सादर प्रणाम कर, उच्च स्थान पर बिठा, पुत्र प्रह्लाद को अपने समीप बिठाया। प्रह्लाद की शान्तिमयी मूर्ति को देख तथा पुरोहितों की भी प्रसन्नता देख कर दैत्यराज मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए। उसने समझा कि, राजकुमार अब ठीक मार्ग पर आ गया है और इसकी भक्ति-भावना की सनक मिट गयी-सी प्रतीत होती है। इसी

---

* सबसे अधिक सभा की शोभा का वर्णन 'हरिवंश' में पाया जाता है।

प्रसन्नता में दैत्यराज ने कहा—'हे बेटा प्रह्लाद ! हे देवताओं के नाशक राजकुमार ! तुम अज्ञान की खानि बाल्यावस्था से छूट कर अब कुमार-अवस्था को प्राप्त हुए हो, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। बेटा ! देखो, इस समय तुम वैसे ही शोभायमान हो रहे हो जैसे घनान्धकार से निकलनेवाले भगवान् भास्कर प्रकाशित होते हैं। बालपने की अज्ञानता से मुक्त हो तुम आज राजनीति-विशारद राजकुमार के रूप में दिखलायी दे रहे हो। इससे हमारा मन आनन्दमग्न हो रहा है। बेटा ! अब राज्यभार को सँभालने की योग्यतावाले तुमको निष्कण्टक राज्य-भार सौंप कर हम तुम्हारी राजलक्ष्मी को देख-देख कर प्रसन्न होंगे। जो पिता अपने पुत्र की प्रशंसा सुनता है उसके मन की सारी व्यथा दूर हो जाती और वह परम आनन्द को प्राप्त होता है। प्रह्लाद ! तुम्हारी नीति-निपुणता की तुम्हारे गुरुवर बड़ी प्रशंसा करते हैं। अतएव हमारे कान तुम्हारे मुख से नीति-चर्चा सुनना चाहते हैं। यह स्वाभाविक बात है कि, लोग नेत्रों से शत्रु की दरिद्रता और पराजय देखना चाहते हैं और कानों से पुत्र के सुन्दर वचन सुनना चाहते हैं।'

दैत्यराज के वचनों को सुन कर निःशङ्क हो प्रह्लाद ने कहा कि—'महाराज ! आपने सत्य ही कहा है कि पुत्र के सुन्दर वचन सभी के कान सुनना चाहते हैं, किन्तु जिन वचनों में कुछ वास्तविक सार हो वे ही वचन सुन्दर कहने और सुनने योग्य होते हैं। जिन वचनों में सांसारिक दुःखसमूहरूपी बन्धन को जला कर भस्म कर देनेवाले भगवान् विष्णु के गुण गाये जाते

हैं उन्हीं में सार है। अन्य तो सभी निःसार हैं। जिन वचनों में भगवान् के गुणानुवाद हैं वे ही वचन कथा हैं, वे ही श्रवण करने योग्य हैं और वे ही वचन श्रवणीय काव्य हैं, हे पिताजी! जिस शास्त्र में भक्तों के वाञ्छित फल देनेवाले भगवान् विष्णु की स्तुति की जाती है वही शास्त्र है, अन्यान्य सांसारिक प्रपञ्चों से रचे गये अर्थशास्त्र, शास्त्र कहलाने योग्य नहीं हैं। जिस नीति-शास्त्र में साम, दाम, भेद और दण्ड-नीति की शिक्षा दी जाती है, जिसमें एक भाई दूसरे भाई का शत्रु माना जाता है और जिसमें अपने भाइयों पर तरह-तरह के पापमय अत्याचार करने की शिक्षा दी जाती है, उसमें बहुत बड़ा भय है। उस शास्त्र से आत्मा ही मारा जाता है। क्योंकि विष्णुभगवान् के विश्व-रूप में सभी आत्मा उसके रूप हैं। यदि किसी आत्मा को आप मारेंगे, सतावेंगे, जीतेंगे और कष्ट देंगे तो अपने विष्णुभगवान् के विश्वरूप को ही मारेंगे, सतावेंगे, जीतेंगे और कष्ट देंगे। अतएव जिस नीति-शास्त्र को गुरुवरों ने मुझे पढ़ाया है वह विवेकशून्य पापमूलक है। इसी कारण से मैं उसको आपके सामने कहने की इच्छा नहीं करता। अतएव मैं एकमात्र वैष्णव-धर्म की इस उदार नीति को, कि—सभी प्राणियों में परमात्मा को मानो और समता के भाव से सबके आत्मा को अपने आत्मा के समान समझो एवं *'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'* को मान कर अनन्यभाव से उस सर्वव्यापी सर्वभूतमय परम पिता परमात्मा विष्णु की आराधना करो—कहता हूँ।

देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः ।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम् ॥
एतद्विजानता सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
द्रष्टव्यमात्मवद्विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृक् ॥
एवं ज्ञाते स भगवाननादिः परमेश्वरः ।
प्रसीदत्यच्युतस्तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसङ्क्षयः ॥

(विष्णु० १ । १९ । ४७-४९)

अर्थात् 'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और सरीसृप ये सभी विष्णु के रूप से भिन्न की भाँति स्थित होने पर भी वास्तव में श्रीअनन्त के ही रूप हैं, ऐसा जाननेवाले पुरुष को चाहिए कि समस्त चराचर जगत् को आत्मवत् देखे; क्योंकि भगवान् विष्णु ने ही विश्वरूप धारण कर रक्खा है । इस प्रकार जानने पर भगवान् अनादि अच्युत परमात्मा उसके प्रति प्रसन्न होते हैं और उनकी प्रसन्नता से समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है ।'

प्रह्लादजी के इन वचनों को सुन कर दैत्यराज आपे से बाहर हो गया । उसकी सारी आशालताएँ मुरझा गयीं और उसने क्रोध के आवेश में तड़क कर कहा कि 'हे असुर-वीरो ! इस बालक की दुष्टता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है । अब इसपर दया करना पाप है । इसको तुरन्त ले जाओ, और नागपाश में बाँध कर समुद्र के प्रबल वेग में डुबा दो एवं ऊपर से पत्थरों के ढेर लगा दो, जिसमें फिर इसके जीवित रहने की कोई सम्भावना ही न रहे ।' दैत्यराज की आज्ञा पाते ही असुरगण अपनी आसुरी प्रकृति के अनुसार प्रसन्नता प्रकट करते हुए शान्तमूर्ति प्रह्लादजी

की ओर झपटे और चारों ओर से उनको पकड़ कर ले चले। मार्ग में तरह-तरह के भय दिखलाते और अपनी वीरता का बखान करते हुए वे उन्हें समुद्रतट पर ले गये। समुद्र की असीम जलराशि उत्ताल तरंगोंमें उछल रही थी। उसकी गर्जना के साथ-साथ प्रचण्ड वायु के सर्राटों से दसों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो भयावनी बन रही थीं। आकाश को घहरा देनेवाली भयङ्कर गर्जना करते हुए असुरगण प्रह्लाद को लेकर वहाँ जा पहुँचे। मूर्ख निर्दय असुरों ने प्रह्लाद को खूब कस के नागपाश में बाँधा—अपनी शक्तिभर उन्हें ऐसा बाँधा कि फिर किसी प्रकार छूट न सकें। तदनन्तर समुद्र की उछलती हुई जलराशि के बीच उनको डुबो दिया और ऊपर से पत्थरों के ढेर से मानों पहाड़ों की रचना कर दी। इतना ही नहीं, अगणित वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर उस पहाड़ पर ऐसा ढेर लगा दिया मानों समुद्र के बीच में पहाड़ पर घना जङ्गल तैयार हो गया है। यह सब कुछ करके असुरगण बड़े ही प्रसन्न हुए और राजधानी में लौट कर अपनी सफलता का समाचार दैत्यराज को सुनाया।

इधर असुरगण और दैत्यराज हिरण्यकशिपु अपनी सफलता के आनन्द में रात बिता रहे थे और उधर इस समाचार को सुन कर महारानी कयाधू प्रबल शोकसागर में डूब रही थीं। सारे अन्तःपुर में रातभर पुत्र-शोक से व्याकुल महारानी कयाधू के आर्तक्रन्दन से कुहराम मचा रहा। हिरण्यपुर में जहाँ-तहाँ शोक से व्याकुल बालक रो तो रहे थे साथ ही भक्तवत्सल भगवान् के गुणानुवाद भी गा रहे थे। क्योंकि उन लोगों को प्रह्लादजी

के मृत्यु-संवाद पर विश्वास नहीं था। कहीं-कहीं असुरों में प्रह्लाद के मारे जाने की बात पर खुशी मनायी जा रही थी तथा लोग दैत्यराज के साहस और उन असुरों के कौशल की प्रशंसा कर रहे थे, जिन्होंने प्रह्लादजी को समुद्र में डुबोया था। इधर तो इस प्रकार सारे-के-सारे हिरण्यपुरवासी अपनी-अपनी भावना के अनुसार आनन्द तथा शोक में जागरण कर रहे थे और उधर भक्तवर प्रह्लादजी की बड़ी ही विलक्षण स्थिति थी। ज्यों ही प्रह्लादजी नागपाश में बाँधे जाने लगे, त्यों ही वे ध्यानावस्थित हो भगवान् के दर्शन करने लगे थे। जिस समय वे अगाध समुद्र में डुबोये गये उस समय भी वे ध्यानमग्न थे। उन्हें भगवद्दर्शनानन्द के गम्भीर सागर में निमग्न रहने के कारण किसी भी बात का पता नहीं था। प्रह्लाद ध्यानमग्न स्तुति कर रहे थे—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः।
रुद्ररूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये॥
(विष्णु० १। १९। ६५-६६)

मय्यन्यत्र तथाशेषभूतेषु भुवनेषु च।
तवैव व्याप्तिरैश्वर्यगुणसंसूचिका प्रभो॥
(विष्णु० १। १९। ७२)

सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर॥

यातीतगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा ।
ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या तां वन्दे चेश्वरीं पराम् ॥
(विष्णु० १ । १९ । ७६, ७७)

नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै यस्याभिन्नमिदं जगत् ।
ध्येयः स जगतामाद्यः प्रसीदतु ममाव्ययः ॥
यत्रोतमेतत् प्रोतं च विश्वमक्षरमव्ययम् ।
आधारभूतः सर्वस्य स प्रसीदतु मे हरिः ॥
नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः ।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः ॥
सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ॥
अहमेवाक्षयो नित्यः परमात्मात्मसंश्रयः ।
ब्रह्मसंज्ञोऽहमेवाग्रे तथान्ते च परः पुमान् ॥
(विष्णु० १ । १९ । ८२-८६)

अर्थात् 'जिन भगवान् कृष्ण के ब्राह्मण ही देवता हैं, जो गोविन्द गौवों के, ब्राह्मणों के और समस्त जगत् के हित हैं उनको मेरा नमस्कार है । जो सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के रूप से सबको उत्पन्न करते हैं, जो स्थितिकाल में विष्णुरूप से पालन करते हैं और जो कल्पान्त-समय में रुद्ररूप से संहार करते हैं, उन त्रिमूर्तिधारी तुमको मेरा नमस्कार है । मुझमें तथा अन्य सभी भूत-प्राणियों में और सारे भुवन में तुम्हारे ऐश्वर्य और गुण को सूचित करनेवाली तुम्हारी ही व्याप्ति दिखलायी देती है । हे सर्वात्मन् ! तुम्हारी गुणाश्रया जो अपराशक्ति समस्त प्राणियों में शाश्वतरूप से विद्यमान है, हे सुरेश्वर ! उसको मेरा नमस्कार है । जो गोचरातीत है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा देखी-सुनी नहीं जा सकती, वचन एवं मन से जो

कहीं और जानी नहीं जा सकती तथा जो ज्ञानियों के ज्ञान द्वारा परिच्छेद्य है, उस परमेश्वरी को मेरा नमस्कार है। यह जगत् जिससे अभिन्न है, उस विष्णु को मेरा नमस्कार है; वह जगत् के आदि-कारण अविनाशी ध्यान करने योग्य भगवान् मुझपर प्रसन्न हों। जो अक्षय और अव्यय हैं, यह सारा विश्व जिनमें ओतप्रोत है, जो सबके आधार हैं, वह हरि मुझपर प्रसन्न हों। जिनके विराट्‌रूप के भीतर सब संसार है, जिनसे सब उत्पन्न हुए हैं, जो स्वयं सब हैं, जो सबके आश्रय हैं, जिनमें सब लीन होते हैं, उन विष्णुभगवान् को मेरा नमस्कार है। बारम्बार नमस्कार है। उन अनन्त की सर्व-व्यापकता के कारण वह मैं ही हूँ; सब मुझसे ही उत्पन्न हैं, मैं ही सर्वरूप से वर्तमान हूँ एवं सनातनरूप मुझमें ही सब लीन होंगे। वह अक्षय मैं ही हूँ, मैं ही नित्य हूँ, आत्मसंश्रय ब्रह्म नामक परमात्मा मैं ही हूँ और सृष्टि के आदि-अन्त में परमपुरुष भी मैं ही हूँ।'

इस प्रकार अभेदबुद्धि से स्तुति करते-करते प्रह्लादजी तन्मय हो गये और अपने को ही अच्युत समझने लगे। इसके सिवा अन्य सब कुछ भूल गये। ऐसी भावना के उत्पन्न होते ही उनके सारे कर्मजनित पाप नष्ट हो गये और उनके शुद्ध अन्तःकरण में भगवान् विष्णु का आविर्भाव हो गया। प्रह्लाद के योगप्रभाव से जैसे ही भगवान् विष्णु का साक्षात्कार होने ही को था, वैसे ही अगाध समुद्र में एक ऐसी वेग की लहर आयी कि प्रह्लादजी के ऊपर फेंके हुए पहाड़ और जङ्गल न जाने कहाँ जा गिरे और प्रह्लादजी समुद्र-तट पर जा विराजे। प्रह्लादजी के नागपाशों को भगवान् के वाहन गरुड़जी ने छिन्न-भिन्न कर

दिया । भक्त की महिमा देख समुद्र ने उनको भाँति-भाँति के रत्नों की भेंट दी, एवं भगवद्भक्त और भगवान् में अभेदबुद्धि रख, उनकी स्तुति की। समुद्र के अन्तर्धान हो जाने पर उसके उपदेशानुसार भगवान् के दर्शन के लिये प्रह्लादजी स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते ही वे अधीर होकर भूमि पर गिर पड़े । उन्होंने सोचा कि, बड़े-बड़े वेदान्ती अपने तपोबल से भी जिनके दर्शन नहीं पाते और सदा लालायित रहते हैं, उन भगवान् विष्णु के दर्शन मुझ-जैसे दैत्यकुल के दोषागार बालक को कैसे मिल सकते हैं ? जिनकी छाया ब्रह्मादि देवता बड़ी-बड़ी स्तुतियों द्वारा कठिनता से पकड़ पाते हैं और कभी-कभी दर्शन पाते हैं, उनकी दिव्य माधुरी-मूर्ति के दर्शन की आशा करना मेरे लिये धृष्टता की बात है । हा ! मैं तो उनके दर्शन के सर्वथा अयोग्य हूँ ।

जैसे ही अधीर हो प्रह्लादजी मूर्छित दशा में भूमि पर गिरे वैसे ही सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ने प्रकट हो अपने परम भक्त प्रह्लाद को चारों भुजाओं से उठाकर अपने हृदय से लगा लिया । भगवान् के स्पर्श से प्रह्लाद की मूर्छा जाती रही । जैसे ही प्रह्लाद की आँखें खुलीं, उन्होंने देखा कि शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् विष्णु, जिनका वे सदा ध्यान करते थे, उन्हें अपनी गोद में लिये बैठे हैं, वैसे ही वे थर-थर काँपने लगे । उन्होंने सोचा कि मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ और इसी भावना में वे आनन्द-मग्न हो फिर अचेत-से हो गये । मूर्छित प्रह्लाद प्रभु की गोदी में पड़े हैं और भगवान् अपने कर-कमल से उनके मुख पर मानों पंखा

झल रहे हैं। बारम्बार प्रेमवश उनके मुख को चूमते हुए अपनी भक्तवत्सलता की महिमा दिखला रहे हैं। कुछ ही समय में प्रह्लाद ने अपनी आँखें फिर खोलीं। प्रह्लादजी ने देखा कि शेष-शय्या एवं महालक्ष्मी की गोद में शयन करनेवाले भगवान् अपनी अहैतुकी-कृपा से मुझे गोद में लिये हुए भूमि पर बैठे और अपने कर-पल्लव से मेरे मुख पर हवा कर रहे हैं। प्रह्लाद गोद से सहसा उठ कर अलग खड़े हो गये और प्रणाम करने के लिये पुनः भूमि पर गिर पड़े। आनन्दविह्वलता के कारण उनके मुख से कोई शब्द नहीं निकलते हैं। वे अवाक् पड़े हैं। प्रह्लादजी की यह दशा देख भक्तवत्सल भगवान् ने अपने हाथों से उनको उठाया। प्रह्लादजी भगवान् के कर-स्पर्श के आह्लाद से आनन्दाश्रु बहाते और काँपते हुए चित्र-लिखे-से रह गये। विष्णुभगवान् ने हँसते हुए कहा—'हे वत्स ! सब प्रकार के भय और भ्रम को छोड़ो, हमारे भक्तों में तुम्हारे समान प्रिय हमको दूसरा कोई नहीं है, अब तुम हमको अपने ही अधीन समझ कर जो कुछ 'वर' माँगना हो, माँग लो।'

प्रह्लाद—'भगवन् ! यह वरदान का समय नहीं है, आप सदा प्रसन्न रहें। मुझे आपके चरणों के दर्शनामृत के सिवा दूसरा कोई वर अभीष्ट नहीं है। ब्रह्मादि देवताओं को बड़ी कठिनाई से मिलनेवाला दर्शन आप, अपनी अहैतुकी कृपा से मुझे दे रहे हैं, इससे जैसी मेरी तृप्ति हुई है वैसी तृप्ति लाखों कल्प-कल्पान्तरों में किसी भी वर से नहीं हो सकती।'

भगवान् विष्णु—'वत्स ! ठीक है, तुमको हमारे दर्शनों से अधिक प्रिय और कुछ नहीं है किन्तु हमारी इच्छा है कि हम तुमको कुछ दें। अतएव हमारे अनुरोध से ही तुम इस समय कुछ माँगो।'

प्रह्लाद—'नाथ ! यदि आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे यह वर दें कि मैं जन्म-जन्मान्तर में कहीं भी क्यों न उत्पन्न होऊँ, सदा ही आपके चरणों का अनन्य दास बना रहूँ।'

भगवान् विष्णु—'प्रह्लाद ! तुमने जो कुछ माँगा उसे तो हमने दिया, किन्तु अभी हमारा हृदय सन्तुष्ट नहीं है; तुम और कुछ माँगो।'

प्रह्लाद ने भगवान् विष्णु के बारम्बार आज्ञा देने पर अपने पूर्व वर को दुहराते हुए कहा कि—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

अर्थात् 'हे भगवन् ! मैं जिस-जिस योनि में सहस्रों जन्म तक जाऊँ, उस-उस योनि में मेरे हृदय में हे अच्युत ! सदा आपकी अच्युता भक्ति—अनन्य भक्ति बनी रहे। अविवेकियों के हृदय में जो विषयों में अनपायिनी प्रीति होती है वही अनपायिनी प्रीति आपके चरणारविन्द को स्मरण करते हुए मेरे हृदय से कभी न जाय।'

विष्णुभगवान्—'वत्स ! यह भी हमने तुमको दिया अब और क्या चाहते हो सो माँगो।'

प्रह्लाद—'भगवन् ! आपके इस अव्यभिचारिणी भक्ति के दान से मैं कृतकृत्य हो गया। अब मुझे क्या चाहिये ?' क्योंकि—

धर्मार्थकामैः किं तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ।
समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥

अर्थात् 'धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति से क्या अधिक लाभ हो सकता है ? जिसके हृदय में समस्त जगत् के मूलभूत आपके चरणारविन्द की भक्ति स्थिर है। जिसके हृदय में भगवद्भक्ति है उसीके हाथ में मुक्ति है, इसमें सन्देह नहीं।' परन्तु आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो मैं एक वर और माँगता हूँ—

मयि द्वेषानुबन्धोऽभूत्संस्तुतावुद्यते तव ।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु ॥
शस्त्राणि पातितान्यङ्गे क्षिप्तो यच्चाग्निसंहतौ ।
दंशितश्चोरगैर्दत्तं यद्विषं मम भोजने ॥
बद्ध्वा समुद्रे यत्क्षिप्तो यच्चितोऽस्मि शिलोच्चयैः ।
अन्यानि चाप्यसाधूनि यानि यानि कृतानि मे ॥
त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत्सम्भवं च यत् ।
त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता ॥

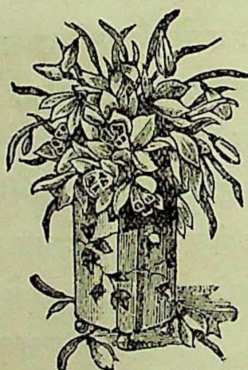
अर्थात् 'हे प्रभो ! मेरे पिताजी ने आपकी स्तुति करने के कारण मुझपर द्वेष करके जो पाप किये हैं, वे नष्ट हो जायँ, हे देव ! मेरे अङ्गों में जो शस्त्र चलाये गये हैं, मैं जो अग्नि की चिता में फेंका गया हूँ, सर्पों से कटाया गया हूँ, मुझे भोजन में जो विष दिया गया है,

नागपाशमें बाँध कर मैं जो समुद्र में डुबाया गया हूँ, ऊँचे पहाड़ पर से गिराया गया हूँ और आपके भक्त होने के कारण मेरे प्रति अन्यान्य असाधु-व्यवहार करके पिताजी ने जो आपका अपराध किया है, उन सब पापों से, हे नाथ! मेरे पिताजी शीघ्र ही मुक्त हों।' धन्य, प्रह्लाद, तुम-सरीखे भक्त ही ऐसा वर माँग सकते हैं।

भक्तराज प्रह्लाद के इस अद्भुत वर को सुन भगवान् विष्णु ने मुसकुराते हुए 'एवमस्तु' कहा। तदनन्तर भगवान् अन्तर्धान हो गये। भगवान् के अन्तर्धान होते ही प्रह्लाद व्याकुल हो उठे। जैसे मणि के छिन जाने पर सर्प व्याकुल हो जाता है, वैसी ही दशा प्रह्लाद की हो गयी। 'हा नाथ! कहाँ गये? हा नाथ! कहाँ गये?' कह कर छटपटाते हुए प्रह्लाद को आकाश से एक शब्द सुनायी पड़ा—'हे प्रह्लाद! हमारे पुनः दर्शन के लिये शोक मत करो! इस रूप में तो इस समय अब तुमको दर्शन नहीं होगा, पर शीघ्र ही नरहरि-रूप से हम तुम्हें दर्शन देंगे और दैत्यों के अत्याचार का अन्त करेंगे।' आकाशवाणी सुन कर प्रह्लाद का चित्त शान्त हुआ और इधर रात्रि का भी अन्त हो गया। प्रातःकाल हो जाने पर प्रह्लादजी पुनः अपने घर की ओर चले और थोड़ी ही देर में वे सुदूर अपने नगर हिरण्यपुर में अनायास ही जा पहुँचे और राजसभा में जाकर पितृ-चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए पुत्र को हिरण्यकशिपु ने दौड़ कर सस्नेह गोद में उठा लिया और सिर का आघ्राण करते हुए आशीर्वाद दिया। दैत्यराज का गला प्रेमवश भर गया और पुत्र-

वात्सल्य के भाव से नेत्रों से आँसू की धारा बहने लगी। दैत्यराज ने कहा—'बेटा ! तुम जीते हो, यह परम आनन्द की बात है। उस समय विष्णुभगवान् के वर-प्रभाव से निष्पाप दैत्यराज की बुद्धि शुद्ध थी और प्रह्लाद के प्रति उसकी प्रीति उमड़ रही थी, प्रह्लाद के वर-प्रभाव से मानों अब कोई शत्रुता न रही। पिता की आज्ञा से प्रह्लादजी पुनः अपने आचार्यों की सेवा में गुरुकुल भेजे गये और पूर्ववत् अध्ययन करने लगे।



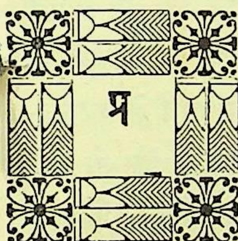
चौबीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद का व्याख्यान

भगवान् श्रीनृसिंह का अवतार

दैत्यराज का वध

यत्पादपद्ममवनम्य महाधमोऽपि
पापं विहाय व्रजति स्वमनोऽभिलाषम् ।
तं सर्वदेवमुकुटेडितपादपीठं
*श्रीमन्नृसिंहमनिशं मनसा स्मरामि ॥**


ह्लादजी का समावर्तन-संस्कार अभी नहीं हुआ था, अतएव शिक्षालाभ करने पर भी अभी वे गुरुजी के आश्रम में निवास करते तथा पठन-पाठन के व्यसन में ही लगे रहते थे । एक दिन गुरुजी की अनुपस्थिति में प्रह्लादजी के सहपाठी दैत्यबालकों ने उनसे पूछा कि—'राजकुमार ! आपके मारने के लिये इतने प्रबल प्रयत्न किये गये, किन्तु आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ, इसका क्या कारण है ? ऐसी कठिन आपत्तियों में आपकी किसने रक्षा की ?' बालकों के वचनों को सुन कर प्रह्लादजी ने ईश्वर

---

* अर्थात् जिनके चरण-कमल को प्रणाम करके महानीच प्राणी भी सकल पापों को छोड़ अपने मनोरथ को प्राप्त होते हैं, उन, सब देवों के मुकुट से पूजित चरणारविन्दवाले भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराज को मैं सदा स्मरण करता हूँ ।

की महिमा का सविस्तर वर्णन किया और अन्त में कहा कि हे असुर-बालको ! भगवान् हरि ही सबके रक्षक और सहायक हैं, तुम लोग ध्यान देकर सुनो, मैं उनकी और उनकी भक्ति की कुछ महिमा तुम लोगोंको सुनाता हूँ—

बड़ों की सेवा, भक्ति, समस्त प्राप्त वस्तुओं का समर्पण, साधु-भक्तों का संग, ईश्वरका आराधन, भगवान् की कथा में श्रद्धा, भगवान् के गुण और कर्मोंका कीर्तन, भगवान् के चरणकमलों का ध्यान, भगवान् की मूर्तियों के दर्शन और उनका पूजन एवं हमारे ईश्वर भगवान् श्रीहरि ही सर्वभूतप्राणियों में विराजमान हैं, इस निश्चय से सब जीवों में समदृष्टि रखना। इन सब साधनों के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छहों शत्रुओं को जीत कर भगवान् की भक्ति करनी चाहिए, ऐसा करने से वासुदेव-भगवान् में अनन्य रति पैदा होती है। भगवान् में प्रेम हो जाने पर, भगवान् ने अपनी लीला से अवतार धारण करके जो विलक्षण कर्म किये हैं, उन्हें सुन-सुन कर जब अति हर्ष के कारण मनुष्य का शरीर पुलकित हो जाता है, उसके आनन्द के आँसू बहने लगते हैं, कण्ठ गद्गद हो जाता है, तब वह ऊँचे स्वर से कभी नाचता गाता हुआ आनन्द की ध्वनि करता है, कभी पागल की भाँति हँसता है, कभी रोता है, कभी ध्यान करता है, कभी सबमें हरि जान कर सभी लोगों को प्रणाम करने लगता है, कभी बारम्बार साँस लेता हुआ लाज छोड़ कर—'हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण' पुकारता है। उस दशा में वह समस्त बन्धनों से छूट जाता है। भगवान्

की भावना से उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है, अनन्य भक्ति के प्रयोग से उसके वासनारूप संसार का बीज दग्ध हो जाता है और वह पूर्णरूप से अधोक्षज भगवान् श्रीहरि को प्राप्त होता है। भगवान् विष्णु का आश्रय ही संसारासक्त मनवाले लोगों के लिये संसार-चक्र का नाश करनेवाला है, इसीको विद्वान् लोग ब्रह्मनिर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुम लोग अपने-अपने हृदय में हृदीश्वर भगवान् का ध्यान करते हुए उनका भजन करो। हे असुर-बालको! सबके हृदय में आकाश के समान स्थित, आत्मा के परम सुहृद् श्रीहरि की उपासना में प्रयास ही कौन-सा है? सांसारिक विषयों के उपार्जन से क्या प्रयोजन है? धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, जमीन, हाथी, खजाना आदि सभी अर्थ और काम क्षणभङ्गुर हैं, इन चञ्चल पदार्थों से मनुष्य को क्या प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है? इन्हीं विषयों की भाँति, यज्ञ आदि कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गादि लोक भी स्थायी और निर्मल नहीं हैं। अतएव जिसमें कोई भी दोष देखने या सुनने में नहीं आता, आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिये उस परमेश्वर को ही अनन्य भक्ति से भजो। अर्थ, काम और धर्म सब जिसके अधीन हैं, तुम लोग निष्कामभाव से उस निरीह आत्मा हरि ईश्वर का ही भजन करो।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसञ्ज्ञितः॥
देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्॥

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

अर्थात् 'हे असुर-बालको ! समस्त प्राणियों के आत्मा, ईश्वर और सबसे अधिक प्रिय एकमात्र हरि भगवान् हैं, वे अपने उत्पन्न किये हुए पञ्चमहाभूतों द्वारा रचित प्राणियों के अन्तर्यामी जीव-संज्ञक हैं । तुम लोग इस बात का सन्देह न करो कि हम दैत्य हैं, अतः ईश्वर की भक्ति करने के योग्य नहीं हैं क्योंकि जिस प्रकार हम भगवान् की भक्ति के प्रभाव से कल्याण को प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व आदि समस्त योनियों के प्राणी, भगवान् मुकुन्द के चरण-कमलों को भजते हुए कल्याणभाजन होते हैं । भगवान् मुकुन्द के प्रसन्नार्थ न तो केवल ब्राह्मण होना और न देवता होना और न ऋषि-महर्षि होना ही पर्याप्त है और न किसी वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, आचार, विचार और केवल व्रत करना आदि ही पर्याप्त है । वे भगवान् तो

विशुद्धा अच्युता भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्तिरहित हो-कर अन्यान्य कर्मों को करना तो विडम्बना—तमाशामात्र है।

असुर-बालको ! इसी कारण मैं कहता हूँ कि तुम लोग अपने कल्याण के लिये भगवान् 'हरि' में भक्ति करो और सारे प्राणियों को अपने आत्मा के समान ही मान कर उन सबके अन्तर्यामी भगवान् हरि का भजन करो। हे मित्रो ! केवल उनकी भक्ति के प्रभाव से न जाने कितने दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, व्रजवासी, पशु, पक्षी तथा अन्यान्य पापी जीव अमृतत्व को प्राप्त हो चुके हैं। अतएव इस लोक में मनुष्यों का सबसे बड़ा स्वार्थ यही है कि वे भगवान् गोविन्द की एकान्त (अनन्य) भक्ति करें जो उन्हें भगवान् की दृष्टि में सबसे बड़ा सम्मान प्रदान करनेवाली है।'

पुरोहित लोग छिपे हुए प्रह्लादजी का व्याख्यान सुन रहे थे। जैसे ही उनका व्याख्यान समाप्त हुआ वैसे ही वे सामने आकर कहने लगे कि 'राजकुमार ! अब आप हम लोगों पर कृपा करें और अपने स्थान को चलें। क्योंकि आपके यहाँ रहने से हमारे अन्यान्य छात्र भी भक्ति-भावना के पागलपन में पड़, न जाने किस दिन किस यातना को प्राप्त हो जायँगे।' इतना कह कर पुरोहितजी ने प्रह्लाद को साथ लेकर राजसभा के लिये प्रस्थान किया। प्रह्लादजी के सहपाठी असुर-बालकों को पुरोहितों का बर्ताव कितना अप्रिय लगा होगा इसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है किन्तु उनमें छात्रधर्म था और गुरु की गुरुता का आदर था। इसका कारण यह था कि उन्हें योग्य धर्मशिक्षा मिली

थी। इसीलिये असुर होने पर भी वे आजकल के धर्महीन विदेशी शिक्षा के पात्र स्वेच्छाचारी भूसुर विद्यार्थियों से ऊँचे विचार के छात्र थे। उनमें आजकल के छात्रों की जैसी धृष्टता, उच्छृङ्खलता और गुरुद्रोहिता के भाव नहीं थे। उस समय गुरुकुल में न कोई पुलिस थी और न पलटन थी। तथापि राजकुमार-जैसे प्रभावशाली विद्यार्थी को अकेले गुरुजी राजद्रोह के अपराध में अपनी पाठशाला से निकाल कर राजसभा में उनको प्राणदण्ड के समान कोई भयङ्कर दण्ड दिलाने के लिये ले जा रहे हैं। इतने पर भी पाठशाला में कोई अशान्ति नहीं हुई। वहाँ शान्ति ही का राज्य रहा और हृदय में चञ्चलता होने पर भी उन भगवद्भक्त निर्भीक छात्रों में से किसीका शरीर इतनी बड़ी घटना होने पर भी चञ्चल नहीं हुआ। आज हमको यह आश्चर्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु यही उस समय के विद्यालयों, गुरुओं और छात्रों का आदर्श था। प्रह्लादजी के साथ उनके गुरु लोग राजसभा को चले गये और पाठशाला में छात्रगण मर्यादा के अनुसार शान्त बैठे अपना-अपना पाठ पढ़ते रहे।

उधर पाठशाला में यह सब कुछ हो ही रहा था कि उधर तीर्थयात्रा से लौट कर शुक्राचार्यजी महाराज हिरण्यपुर में आ गये। वे सबसे पहले राजसभा में न जाकर, राजमहल में पहुँचे। गुरु के शुभागमन का समाचार सुन दैत्यराज ने पाँव-पियादे राजद्वार पर जाकर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आचार्य को अपने साथ राजमहल में ले जाकर अर्घ्य-पादार्घ्य आदि के द्वारा उनका यथोचित

पूजन किया। शुक्राचार्यजी ने भी आशीर्वाद देकर, कुशल-प्रश्न पूछा। दैत्यराज ने प्रह्लादजी के सारे चरित्रों का वर्णन किया और अन्त में कहा कि 'महाराज! आज रात को मैंने बहुत ही विचित्र स्वप्न देखे हैं। मैंने देखा कि राजसभा में मेरे सामने ही वज्रपात हुआ, जिससे सारी सभा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। मैं शिकार खेलने गया तो मुझे जंगली हाथियों ने खदेड़ा, जिससे मुझे भागना पड़ा। सबसे बुरी बात मैंने यह देखी कि महारानी कयाधू बड़ी ही विकलता से विलाप करती हुई रो रही हैं। यह तो स्वप्न की बातें हुई, इसके सिवा आजकल शकुन भी अच्छे नहीं हो रहे हैं, इन सबका क्या कारण है और क्या फल है? आपके अतिरिक्त यह सब मुझे और कौन बतला सकता है?'

शुक्राचार्य–'हे वत्स! तुमको जो स्वप्न हुए हैं न तो वे ही मंगलकारी हैं और न ये भौम आन्तरिक्ष और दिव्य शकुनरूप उत्पात ही शुभ हैं।

यस्यैते सम्प्रदृश्यन्ते राज्ञो राष्ट्रे महासुर।
देशो वा ह्रियते तस्य राजा वा बधमर्हति॥
अतो बुद्ध्या समीक्षस्व यथा सर्वं प्रणश्यति।
बृहद्भयं हि न चिराद्भविष्यति न संशयः॥

अर्थात् 'हे महा असुर हिरण्यकशिपु! जिस राजा को ऐसे स्वप्न दिखलायी देते हैं और जिस राजा के देश में ऐसे उत्पात एवं अपशकुन होते हैं, उस राजा का या तो देश छीना जाता है या वह स्वयं मारा जाता है। अतएव इस बात को तुम खूब सोच

लो कि बहुत ही शीघ्र कोई बहुत बड़ा भय उपस्थित होनेवाला है जिससे सर्वनाश हो जायगा।' इतना कह कर शुक्राचार्यजी ने बिना अरिष्ट-शान्ति बतलाये ही दैत्यराज को आशीर्वाद दे अपने आश्रम को जाना चाहा। दैत्यराज की दशा बुरी थी, वे अरिष्ट-शान्ति का उत्तर न पाने से विकल थे किन्तु गुरुजी से कुछ कह भी नहीं सकते थे अतएव भय एवं शोक से व्याकुल दैत्यराज ने उनको सादर साष्टाङ्ग प्रणाम कर विदा किया। इस समय दैत्यराज के चित्त पर अत्यन्त विषाद छाया था, भय एवं शोक का पूर्ण आवेश था। इसी समय ब्रह्मशाप का भी काल आकर उपस्थित हो गया। शाप के प्रभाव से उसके हृदय में पुनः अपने पुत्र प्रह्लाद की हरिभक्ति की ओर ध्यान गया। यह स्वाभाविक बात है कि भयातुर व्यक्ति को चारों ओर भय-ही-भय दिखलायी देने लगता है। यही दशा हिरण्यकशिपु की थी। भय एवं शोक से व्याकुल दैत्यराज कुछ देर बाद राजसभा को गया, वहाँ पहुँचते ही उसने देखा कि शोक एवं चिन्तायुक्त गुरुपुत्र षण्ड और अमर्क प्रह्लाद को साथ लिये चले आ रहे हैं।

दैत्यराज एवं पुरोहितसहित राजकुमार, सब लोग एक ही साथ सभा में पहुँचे और सबका यथोचित स्वागत अभिवादन आदि हुआ। प्रह्लादजी ने पिता के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। दैत्यराज ने उनको आशीर्वाद दे अपने आसन पर बैठने की आज्ञा दी। राजसभा ठसाठस भरी थी, हिरण्यकशिपु की राजसभा समस्त ऐश्वर्य की मूर्तिमान् छटा थी, परन्तु दैत्यराज की उदासीनता से सारी-की-सारी सभा उदासीन-सी प्रतीत हो रही थी। भावी शोक

की छाया मानों सबके हृदयों पर पड़ रही थी। सारे सभासद् चुपचाप बैठे थे, कोई किसीसे कुछ भी कहता-सुनता नहीं था।

राजसभा शान्त थी, दैत्यराज भी चुपचाप बैठे थे, इसी बीच में दैत्य-गुरुओं ने पाठशाला में छात्रों को प्रह्लाद द्वारा दी जानेवाली हरिभक्तिरूपी राजद्रोही वक्तृताओं का समाचार सुनाया। दैत्यराज का चित्त ब्रह्मशाप के प्रभाव से पहले से ही भय और शोक से सन्तप्त हो रहा था, अतः जैसे ही उसने गुरुवरों के मुख से प्रह्लाद की बातें सुनीं, वैसे ही उसके शरीर में आग-सी लग गयी। उसने क्रोधपूर्ण विकराल नेत्रों से प्रह्लाद की ओर देखा और तड़क कर कहा कि—'रे दुष्ट! क्या अभी तक तेरी मूर्खता नहीं गयी? सुनता है, तेरे गुरुवर क्या कह रहे हैं? क्या सचमुच तू अब मेरे ही हाथों मरना चाहता है? क्या अब भी अपनी दुष्टता छोड़ कर मेरी आज्ञा का पालन नहीं करेगा? मेरा यह अन्तिम आदेश है कि—

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्यतः।
मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम्॥

अर्थात् 'तीनों लोक का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ, इसलिये तू मुझको ही ईश्वर मान, और मेरी ही पूजा कर, उस दुष्ट शत्रु गोविन्द का नाम छोड़ दे।'

दैत्यराज के वचन समाप्त होते ही राजपुरोहितों ने भी उनकी ही हाँ में हाँ मिला दी। पिता एवं पुरोहितजी के वचन सुन कर परम भागवत प्रह्लादजी हँसते हुए कहने लगे—

अहो भगवतः श्रैष्ठ्यं यन्मायामोहितं जगत्।
अहो वेदान्तविदुषः सर्वलोकेषु पूजिताः॥

ब्राह्मणा अपि चापल्याद्वदन्त्येवं मदान्विताः ।
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् ॥
नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परम् ।
गतिर्विश्वस्य जगतः शाश्वतः स शिवोऽच्युतः ॥
धाता विधाता जगतः वासुदेवः सनातनः ।
तेनैव सृष्टौ ब्रह्मेशौ सर्वदेवोत्तमावुभौ ॥
तस्यैवाज्ञां पुरस्कृत्य वर्तेते ब्रह्मशङ्करौ ।
तस्य विष्णोः परं धाम सदा पश्यन्ति सूरयः ॥
एवं सर्वोपनिषदामर्थं हित्वा द्विजोत्तमाः ।
रागाल्लोभाद्भयाद्वापि अन्यत्रमतिमानसाः ॥
कृष्णं ध्यायेन्महात्मानो योगिनः सनकादयः ।
यमर्चयन्ति ब्रह्मेशशक्राद्या देवतागणाः ॥
स एव रक्षकः श्रीशो देवानामपि सर्वदा ।
तमेव पूजयिष्यामि लक्ष्म्या संयुतमीश्वरम् ॥

अर्थात् 'बड़े आश्चर्य की बात है कि वेद-वेदान्त के जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मण, जिनको सारा संसार आदर की दृष्टि से देखता और पूजता है वे भी भगवान् की माया से मोहित हो धृष्टता के साथ—अभिमान के साथ इस प्रकार की अनर्गल बातें कहते हैं। जिन भगवान् की माया से यह सारा जगत् मोहित है उनकी बड़ाई कहाँ तक की जाय? मेरे विचार में तो नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तत्त्व हैं, नारायण ही सबसे बड़े ध्यान करनेवाले और नारायण ही सबसे बड़े ध्यान हैं। वे ही

जगत् की गति हैं, वे ही इस अनवरत चलनेवाले विश्व की गति हैं और वे ही अच्युत एवं भगवान् शिव हैं। वे ही नारायण संसार के धाता-विधाता हैं और वे ही सनातन वासुदेव हैं, उन्हीं नारायण ने ब्रह्मा और शिव—इन दोनों सर्व देवताओं में उत्तम देवताओं को उत्पन्न किया है और उन्हीं की आज्ञा से वे दोनों अपना कार्य करते हैं। उन्हीं भगवान् विष्णु के धाम को विद्वान् लोग सबसे परे देखते हैं। परन्तु आज उन सर्वोपनिषदों से प्रतिपादित नारायण को छोड़ कर, ये ब्राह्मणों में उत्तम विद्वान् भी राग, लोभ अथवा भयवश न जाने क्या कह रहे हैं और अपने चित्त को दूसरी ओर बहका रहे हैं ? जिन परब्रह्म भगवान् कृष्ण का सनकादि योगिराज ध्यान करते हैं; जिनको ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि देवतागण पूजते हैं और जो एक ही देवताओं के भी सदा रक्षक रहते हैं मैं उन्हीं परब्रह्म नारायण की, लक्ष्मीजी के सहित पूजा करूँगा।'

प्रह्लादजी के निर्भीक और ओजस्वी वचनों को सुन कर दैत्यराज के शरीर में आग लग गयी। क्रोध के मारे उसके अंग काँपने लगे और वह तिरछी नजर से प्रह्लाद की ओर देखता हुआ घुड़क कर तिरस्कारयुक्त वचन बोला कि—'रे दुष्ट राजकुमार ! बता, जिसकी तू इतनी प्रशंसा करता है वह तेरा विष्णु है कहाँ? यदि तेरा विष्णु सर्वव्यापी है तो क्या इस राजसभा में भी है ? यदि है तो दिखला, कहाँ है ? यदि नहीं दिखलाता तो अब तेरा अन्त-समय आ गया। अब तक हमने तुझको अपना सुपुत्र समझ कर अपने हाथों वध करना उचित नहीं समझा था, किन्तु अब

ऐसा प्रतीत होता है कि तेरी मृत्यु हमारे ही हाथ है। शीघ्र बतला और दिखला तेरा विष्णु कहाँ है ?' यों कहते-कहते दैत्यराज आपे से बाहर हो गया और बोला--

हे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्धूतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम्॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किंबलोऽत्यगाः॥

अर्थात् 'रे दुर्विनीत, रे मन्द-बुद्धि, कुलाङ्गार अधम! मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन करनेवाले तुझको मैं अभी यमलोक पहुँचाता हूँ। जिसके कुपित होते ही लोकपालों के सहित तीनों लोक थर-थर काँपने लगते हैं, उस मेरे समान पराक्रमी की आज्ञा का अरे मूढ़! तू किसके बल पर निडर हो उल्लङ्घन कर रहा है ?'

परम विश्वासी प्रह्लाद ने शान्ति और गम्भीरता के साथ उत्तर दिया--

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥
जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात्तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम्॥
दस्यून्पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे॥

अर्थात् 'हे महाराज ! जिन्होंने ब्रह्मा से लेकर एक तिनके तक समस्त स्थावर-जंगम जगत् को अपने वश में कर रक्खा है वे भगवान् ही मेरे बल हैं; मेरे ही नहीं, आपके और अन्यान्य सबके बल भी वे ही हैं। वे ही महापराक्रमी भगवान् ईश्वर हैं, काल हैं और ओज हैं; वे ही साहस, सत्त्व, बल, इन्द्रिय और आत्मा हैं; वे ही तीनों गुणों के स्वामी अपनी परम शक्ति से विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आप अपने इस आसुरी भाव को छोड़ कर सबमें समभाव से परमात्मा को देखिये। फिर आपको पता लगेगा कि आपका ही क्या किसी का भी कहीं कोई शत्रु नहीं है। कुमार्ग पर चलनेवाला बिना जीता हुआ मन ही परम शत्रु है। अतएव मन को वश में करके समत्व को प्राप्त होना ही अनन्त भगवान् की मुख्य आराधना है। कुछ मूर्ख लोग अपने अन्दर रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः डाकुओं को पहले न जीत कर ही मान बैठते हैं कि हमने दशों दिशाओं को जीत लिया है। जिन्होंने अपने मन-इन्द्रियों को वश में कर लिया है उन समस्त भूत-प्राणियों में समदृष्टि हुए विद्वान् साधुओं के लिये अपने अज्ञान से कल्पित शत्रु कोई भी नहीं है।

हे पितृचरण ! आप क्रोध न कर शान्त हों, दैत्यों के नहीं, अपने मन के राजा बन क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें। अभी समय है, अब भी आप उन करुणावरुणालय की भक्ति में चित्त लगाइये। फिर आप देखेंगे कि मेरा वह प्रभु आपकी इस राजसभा में विद्यमान है। यदि आप ऐसा करें तो आप आज ही से परम सुखी और सन्तुष्ट होकर परम पद को प्राप्त कर सकते हैं।'

प्रह्लाद के इन वचनों को सुन कर हिरण्यकशिपु क्रोध से अधीर हो उठा और बोला—

'रे मन्दभागी, अब निश्चय ही तेरी मरने की इच्छा है—*'विनाश-काले विपरीतबुद्धिः'* ठीक ही है—इसीसे तू हमारे सामने धृष्टता के साथ अनाप-शनाप बक रहा है। इस धृष्टता का फल अभी तुझको मिलता है। अच्छा! जब तू अपने विष्णु को हमारी सभा में भी बतलाता है, और उसे जगदीश्वर मानता है तो दिखला वह कहाँ है? क्या इस सामनेवाले खम्भे में भी है? यदि है तो जल्दी दिखला, नहीं तो अब हम तेरा सिर इसी तलवार के द्वारा धड़ से अलग करते हैं। देखेंगे, तेरा हरि कहाँ से आकर तुझे बचाता है?'

प्रह्लादजी ने पिताजी को प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर कहा कि, पूज्यपाद पिताजी! आप शान्त हों, क्रोध न करें। मैंने मिथ्या नहीं, सत्य ही कहा है। मेरे विष्णु सर्वव्यापी हैं और इस खम्भे में भी हैं। भगवन्! देखिये, मुझे तो इस खम्भे में वे स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं, मैं नहीं कह सकता आपको भी दिखलायी पड़ते या नहीं। इसी प्रसङ्ग में स्व० वा० वान्धवाधीशने लिखा है—

पितु बावरो! तू कछु जाने नहीं प्रभु मेरो सबै थल में विचरै।
अवनी में अकाश में शैलहु सिन्धु में मो महँ तो महँ तेज भरै॥
रघुराज बड़ो करुणाकर सो निज भक्तन को प्रण पूरो करै।
यह खम्भ में मोहि तो देखि परै तोहि देखि परै धौ न देखि परै॥

परमभागवत प्रह्लादजी के इन वचनों को सुन कर दैत्य-राज हिरण्यकशिपु राजसिंहासन से सहसा कूद पड़ा और क्रोध के आवेश में प्रह्लादजी को न जाने कितने कटु एवं अवाच्य वचन कहता हुआ खड्ग लेकर, भाँति-भाँति के रत्नों एवं मोतियों की झालरों से सुशोभित सामने के स्फटिक-स्तम्भ की ओर लपक कर उसपर बड़े जोर से एक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि जिससे न केवल राजसभा ही किन्तु सारा भूमण्डल डगमगा गया। मुष्टि-प्रहार के शब्द के साथ ही खम्भे में से सहसा ऐसा भयङ्कर एवं घोर शब्द हुआ जिससे तीनों लोक और चौदहों भुवन शब्दायमान हो गये। ब्रह्माण्ड के फूटने के समान घोर रौरव शब्द को सुन कर सारे संसार के समस्त भूतप्राणी घबड़ा गये। लोगों ने समझा कि प्रलयकाल उपस्थित है। अगणित असुर-स्त्रियों के गर्भ असमय में ही गिर गये। कायर असुर भयानक शब्द सुनते ही सभा से भाग निकले। आकाश से तारे टूट-टूट कर गिरने लगे। दिग्गजों के दाँत हिल गये। सहसा भूमण्डल में भारी भूकम्प-सा आ गया और न जाने कितने ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और उनके शृङ्ग टूट-टूट कर वेग से उछले और दूर-दूर देशों में जा गिरे। जब पहाड़ों की यह दशा हुई तब विशाल राजमहलों की विशेषकर हिरण्यपुर के राज-प्रासादों की दशा कैसी हुई होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं। सारे नगर के लोग भयभीत होकर अपने-अपने घरों से निकल-निकल कर भागने लगे और सर्वत्र हाहाकार मच गया।

इस प्रकार महा भैरव शब्द के साथ ही दैत्यराज ने अपने सामने ही सहसा स्तम्भ को फूटते हुए देखा—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७।८।१८)

अर्थात् 'भगवान् मुझे तो इस खम्भ में भी दिखलायी पड़ते हैं' अपने भक्त प्रह्लाद के इन वचनों को और अपनी सर्वव्यापकता को प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध करने के लिये भक्तवत्सल भगवान् श्रीहरि सभा के बीच स्तम्भ के भीतर से अद्भुत नरहरि-रूप धारण कर प्रकट हो गये।'*

दैत्यराज ने परम आश्चर्य और भय के साथ अद्भुत नृसिंह-रूप को देखा। जिसका सारा शरीर तो चतुर्भुज सुन्दर मनुष्य का-

---

*टीकाकारों ने यहाँपर 'निजभृत्यभाषितम्' के अनेक अर्थ किये हैं। किसी ने लिखा है कि, अपने सेवक सनकादि महर्षियों के उस वचन को सत्य करने के लिये जो शाप के अनन्तर उन्होंने जय-विजय को तीन जन्म में मुक्ति पाने की बात कही थी अथवा निजभृत्य हिरण्यकशिपु के उस वचन को सत्य करने के लिये भगवान् ने नृहरिरूप धारण करके अवतार लिया है, जिस वचन में उसने ब्रह्माजी से वर माँगा था कि मैं न मनुष्य से मारा जाऊँ और न पशु से। इसी कारण यहाँ 'न मृगं न मानुषम्' ऐसे शब्द का प्रयोग भी हुआ है। किसी-किसी ने यह भी लिखा है कि कयाधू-हरण के समय इन्द्र से नारदजी ने कहा था कि इसके गर्भ में हरि-भक्त है उससे तुम्हारी रक्षा होगी, उस वचन को सत्य करने के लिये भगवान् प्रकट हुए हैं।

सा है और सिर महाभयङ्कर सिंह का-सा दीख रहा है। प्रज्वलित अग्नि में तपाये हुए सोने के-से चमचमाते हुए भयावने नेत्र हैं और सिर पर आकाश तक फैली हुई सोने की-सी जटाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े तीखे भयङ्कर दाँतों और बिजली की चपलता को भी लज्जित करनेवाली चमचमाती हुई लपलप करती जिह्वा को देख कर अजेय वीर दैत्यराज का हृदय काँप उठा और उसका मुख सहसा सूख गया। भगवान् नृसिंह के पर्वताकार शरीर के विशाल भुजदण्डों और ब्रह्माण्ड को फाड़ डालने योग्य बड़े-बड़े नखों को देख कर दैत्यराज का धीरज छूट गया और भयभीत हो जाने के कारण, उसकी आँखें सहसा बन्द हो गयीं। यह पहला ही अवसर था कि दैत्यराज को अपने जीवन में भय प्राप्त हुआ था। उसने भयभीत होकर शत्रु के सामने आँखें मूँद लीं। लोग कह सकते हैं कि, दैत्यराज-जैसे वीर के लिये मृत्यु से डर कर भयभीत हो आँख मूँद लेना कभी सम्भव नहीं था। उसने अपने स्वामी को अपने सामने देख, अपने उस अपराध को स्मरण किया जिसके कारण उसको सनकादि महर्षियों ने शाप दिया था और अपने ही अपराध के कारण दयामय स्वामी को यह रूप धारण करने का कष्ट उठाना पड़ा था, इसलिये उसने लज्जित होकर अपनी आँखें मूँद ली थीं। यह भावना भी बड़ी सुन्दर है। अस्तु।

इधर दैत्यराज की जीते ही जी आँखें मुँद गयीं! तीनों लोक तथा चौदहों भुवन के जीतनेवाले अजेय वीर का

शरीर मृतप्राय हो गया। उधर घोर गर्जना करते हुए उन भयङ्कर मूर्तिधारी भगवान् श्रीनृसिंहजी ने तड़क कर एक छोटी भूमिका के समान दैत्यराज को उठा कर अपनी जंघा पर रख तीक्ष्ण नखों से उसका उदर विदीर्ण कर डाला और अँतड़ियों को निकाल अपने गले में माला—विजयमाला के रूप में धारण कर लिया। दैत्यराज का अन्त पलक मारते-मारते ही हो गया। साथ ही उसके साथी अन्यान्य शूर असुर भी भगवान् नृसिंह की कोपज्वाला में भस्म होकर वहीं ढेर हो गये।*

त्रिभुवनविजेता दैत्यराज हिरण्यकशिपु के सहसा वध होने का समाचार बिजली के समान सर्वत्र फैल गया। देवताओं के अधीश्वर इन्द्र और अन्यान्य दिक्पाल कारागार से तुरन्त मुक्त कर दिये गये। सारे संसार में विशेषकर देवता और उनके भक्त धार्मिक विश्वनिवासियों में आनन्दमय कोलाहल मच गया। असुरों से सन्तप्त देवताओं में उस समय जो आनन्द-समुद्र उमड़ा, उसका वर्णन करना तो लेखनी की शक्ति के सर्वथा बाहर है। हाँ, उस आनन्द का आंशिक अनुभव वे कर सकते हैं जो घोर अत्याचारी, धर्मद्रोही प्रबलतर शासक के पश्चात् उसके दुःशासन के अन्त और सुशासन के

* किसी-किसी पुराण में दैत्यराज और भगवान् नृसिंहजी के बीच बहुत दिनोंतक घोर युद्ध होने का उल्लेख है। इतना ही नहीं, इस युद्ध में विष्णु के साथ इन्द्रादि देवताओं के लड़ने की भी बात है। सम्भवतः ऐसी कथाएँ कल्पान्तर की ही मानी जा सकती हैं।

आरम्भ को देखने का सुख पा चुके हैं। अस्तु, दैत्यराज के वध से स्वर्ग के आनन्द का ठिकाना न रहा, जहाँ देखिये वहीं आनन्द-ध्वनि हो रही है, भगवान् नरहरि का जय-जयकार मनाया जा रहा है और परमभागवत प्रह्लादजी का गुण गाया जा रहा है! चारों ओर मङ्गलमय उत्सव होते दिखलायी दे रहे हैं और पटह दुन्दुभी ही नहीं, बड़े-बड़े नगाड़ों से आकाशमण्डल घहरा उठा है। गन्धर्वों के सङ्गीत और अप्सराओं के नृत्य से सारा स्वर्ग मङ्गलधाम बन गया है। इस आनन्दोत्सव में गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ देवतालोग भी आकाशमण्डल में हिरण्यपुर के ऊपर टिड्डियों की तरह उड़ने लगे और विश्वम्भर की विजयध्वनि से विश्व को कम्पायमान करते हुए भगवान् श्रीनृसिंहजी महाराज के तथा उनके परमभक्त प्रह्लाद के ऊपर पुष्पवृष्टि करने लगे।

अवश्य ही दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध उसके वरदान की शर्तों को पालन करते हुए ही हुआ। उसने शर्तें लगायी थीं कि 'न दिन में मरूँ न रात में' अतएव उसका वध सन्ध्या समय किया गया; उसने माँगा था कि 'मुझे न मनुष्य मारे न पशु' अतएव 'न मृगं न मानुषं' नृसिंह रूप भगवान् को धारण करना पड़ा और उसने वर माँगा था कि 'मैं न हथियार से मारा जाऊँ और न ब्रह्माजी के उत्पन्न किये हुए किसी प्राणी से' अतएव नखों द्वारा और ब्रह्मा की सृष्टि के किसी प्राणी ने नहीं, स्वयम्भू भगवान् नृसिंहजी ने उसको मारा। उसकी यह भी एक शर्त थी कि 'मैं न भीतर मरूँ न बाहर तथा न जल में, न

थल में' अतएव भगवान् ने उसे देहरी पर और अपनी जंघा पर गिरा कर मारा था। सारांश यह कि भक्तवत्सल भगवान् ने अपने पार्षद की, जो उस समय दैत्यराज के रूप में था, सारी शर्तें पूरी कीं और उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुतापूर्ण उनका जैसा भजन किया, उसके फलस्वरूप यह प्रथम जन्म का काण्ड समाप्त हुआ।

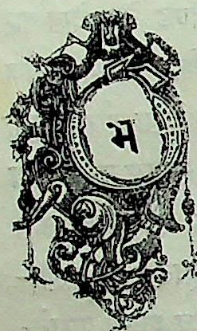
हिरण्यकशिपु मारा गया, सारे संसार में आनन्द छा गया और देवताओं के दुःख का अन्त हो गया किन्तु राजसभा के मध्य भगवान् नृसिंह की उस विकराल मूर्ति के तेज से उनके सम्मुख डर के मारे किसीका भी जाने का साहस नहीं होता। अन्य देवताओं की कौन कहे, ब्रह्मा और शिव भी दूर दी खड़े उस छवि को देखते हैं। भगवान् की वह मूर्ति, मानों मूर्तिमान् क्रोधमयी मूर्ति बन गयी है। भगवान् का घोर गर्जन, उनके गले में दैत्यराज की अँतड़ियों की माला और रक्तरञ्जित शरीर की ओर किसीको देखने का साहस नहीं होता था। अन्त में सब देवताओं ने जगन्माता महालक्ष्मी का स्मरण किया, उनकी स्तुति की। जगज्जननी प्रसन्न होकर उपस्थित हुईं। ब्रह्मादि देवताओं ने उनसे प्रार्थना की कि 'माता! इस समय जगत्पिता प्रभु का जैसा विकराल स्वरूप है, उनका जैसा क्रोध है और वे जैसे घोर गर्जन से बारम्बार भूमण्डल को कम्पायमान कर रहे हैं, ऐसा स्वरूप हम लोगों ने इससे पूर्व कभी नहीं देखा था। अतएव हम लोग भयभीत हो रहे हैं। किसीका साहस नहीं होता

कि उनके चरणकमलों तक जाय और प्रार्थना करके उनके कोप को शान्त करावे। इसीलिये हम लोगों ने आपको कष्ट दिया है। माताजी! इस समय आप ही उनके क्रोध को शान्त कर सारे संसार को इस महान् आतङ्करूपी सङ्कट से मुक्त कर सकती हैं। देवताओं के प्रार्थनानुसार जगन्माता महालक्ष्मी कुछ दूर तक तो गयीं, परन्तु भगवान् का भयङ्कर नृसिंहरूप और उनका प्रचण्ड तेज देख कर तुरन्त लौट आयीं। महालक्ष्मी ने देवताओं से कहा कि 'देवगण! आज तक मैंने भी न तो भगवान् का ऐसा स्वरूप ही कभी देखा और न ऐसी क्रोधभरी प्रज्वलित आँखें ही देखी हैं अतएव मेरा साहस नहीं होता कि मैं उनके समीप तक जाऊँ और उनके क्रोध को शान्त कराऊँ। शेष में सब देवताओं की सम्मति से ब्रह्माजी ने प्रह्लादजी से कहा—बेटा प्रह्लाद! अब इस त्रिलोकी में भगवान् का क्रोध शान्त करानेवाला तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं है। यह क्रोध तुम्हारे पिताजी को मार कर तुम्हारी रक्षा करने के लिये ही हुआ है अतएव तुम्हीं इस क्रोध को शान्त करा सकते हो।' ब्रह्माजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर प्रह्लादजी शान्तचित्त से, निर्भय हो, भगवान् के समीप जा पहुँचे और उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जिस भयानक स्वरूप के भय से ब्रह्मादि देवता कोसों दूर भागते थे, श्रीनृसिंहजी की उसी मूर्ति के चरणों में प्रह्लादजी निर्भय साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहे हैं। यह है क्या? किसके प्रभाव से आज प्रह्लाद निर्भय हैं? यह है भक्त का महत्त्व और अनन्य भगवद्भक्ति की अनन्त महिमा, जिसके वश होकर भगवान् को इस प्रकार की अलौकिक लीलाएँ करनी पड़ती हैं।

पचीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद और देवताओं द्वारा भगवान् की स्तुतियाँ

भक्तवात्सल्य-रस का चमत्कार



गवान् ने देखा कि प्रिय बालक प्रह्लाद चरणों पर पड़ा साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है; किन्तु हमारे प्रभाव से उसकी वाणी रुक रही है, वह भयभीत नहीं, किन्तु आनन्दमुग्ध हो रहा है, अतएव उन्होंने उसको अपने भक्तभयहारी भुजदण्डों से उठा कर अपनी गोद में बैठा लिया और कालरूपी सर्प के भय से भीत चित्तवाले लोगों को अभय प्रदान करनेवाला अपना करकमल वे प्रह्लाद के सिर पर फेरने लगे। भगवान् का कोप शान्त हुआ और उनके हृदय में दया की बाढ़-सी आ गयी। भगवान् के करकमलों का मधुर स्पर्श होते ही प्रह्लाद की सारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता जाती रही, उनका शरीर असीम हर्ष से रोमाञ्चित हो गया, नेत्रों से आनन्दाश्रुओं की धारा बहने लगी और उसी क्षण उनके हृदय में अपूर्व ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया। प्रह्लाद परमानन्द को प्राप्त होकर भगवान् के चरण-कमलों के ध्यान में शरीर की सुध-बुध भूल गये। भगवान् ने स्नेहमयी जननी की भाँति प्रह्लाद का मस्तक सूँघते हुए बड़े ही कोमल वचनों में संकुचित होते हुए-से कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
कैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।
आलोचितं विषयमेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः ॥

'बेटा प्रह्लाद ! कहाँ तो तेरा कोमल शरीर और तेरी सुकुमार अवस्था और कहाँ उस उन्मत्त के द्वारा की हुई तुझ पर दारुण यातनाएँ । ओह ! यह कैसा अभूतपूर्व प्रसंग देखने में आया । प्रिय वत्स ! मुझे आने में यदि देर हो गयी हो तो तू मुझ पर क्षमा कर ।' धन्य भक्तवत्सलता !

भगवान् के स्नेह-सने वचन सुन कर प्रह्लाद आनन्दविह्वल हो गये ! फिर वे मन-ही-मन सोचने लगे—

जिन उग्र नृसिंहरूप भगवान् की आराधना और स्तुति करने में ब्रह्मादि देवतागण, मुनिगण और सत्त्वगुण में जिनकी अपार बुद्धि है वे सिद्धगण भी जब समर्थ नहीं हुए, तब इस प्रकार का साहस करना मेरे लिये कैसे सम्भव है ? फिर भी इन्हीं की कृपा से मैं स्तुति करूँगा । ऐश्वर्य, उत्तम कुल का जन्म, सौन्दर्य, पाण्डित्य, इन्द्रियों की निपुणता, कान्ति, प्रताप, बल, उद्यम, बुद्धि, तपस्या एवं अष्टाङ्गयोग—ये मनुष्यों के बारह गुण हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्मा की आराधना के लिये ये गुणमात्र ही पर्याप्त नहीं हैं । उसके लिये तो एकमात्र भक्ति ही पर्याप्त है । अतएव इन बारह गुणों के न होने पर भी शरणागति

भक्ति के द्वारा भगवान् ने गजराज का उद्धार किया था। भगवान् पद्मनाभ के पादारविन्द की भक्ति से विमुख-ज्ञान, सत्य, दम, श्रुत, अमात्सर्य, ह्रीं, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति एवं शम-इन बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण की अपेक्षा मैं उस भगवद्भक्त श्वपच को, जिसने अपना मन, वचन आदि सब कुछ भगवान् के चरणारविन्द में अर्पण कर दिया है, श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि भगवच्छरणागत श्वपच अपने समस्त कुल को पवित्र कर देता है किन्तु वह भगवद्विमुख ब्राह्मण स्वयं अपना भी उद्धार नहीं कर सकता। भगवान् अपनी भक्ति अथवा अपना मान, अपने लाभ के लिये नहीं चाहते, प्रत्युत कर्ता ही के लाभ के लिये चाहते हैं, जैसे तिलकादि के धारण करने से धर्मपालन के साथ ही अपने मुख की शोभा भी बढ़ती है वैसे ही भगवान् का मान करने से अपना ही मान बढ़ता है। यद्यपि मैं दैत्य-जैसे नीच कुल में उत्पन्न हुआ हूँ और संसार की नीचप्रवृत्ति के वशवर्ती हूँ, तथापि अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की स्तुति करूँगा। क्योंकि भगवान् की स्तुति करने से इस मायाग्रसित संसार के बन्धन से मुक्त और पवित्र होकर लोग आनन्द प्राप्त करते हैं। इन बातों को सोच-विचार कर प्रह्लादजी स्तुति करने लगे---

स्तुति का मर्मांश

'हे नाथ! ये समस्त ब्रह्मादि देवतागण, जो आपके क्रोध से भयभीत हो रहे हैं, आपके सत्त्वमूर्ति ही के आज्ञाकारी, उपासक एवं भक्त हैं-दूसरे कोई नहीं हैं। ये देवगण, हम असुरों के

समान वैरभाव से विरक्त भक्त नहीं हैं, ये तो आपके रुचिर अवतार की लीलाओं को विश्व के कल्याण के लिये श्रद्धापूर्वक देखते हैं, संसार को भय दिलाने के लिये नहीं। अतः इन देवताओं के भय-निवृत्त्यर्थ हे भगवन्! आप अपने क्रोध को शान्त करें। जिस असुर के मारने के लिये यह क्रोध था, वह तो मारा गया। अब क्रोध का क्या प्रयोजन है? अतएव इसे त्यागने की कृपा कीजिये। आपके द्वारा असुर के मारे जाने से सज्जनों को उसी प्रकार सन्तोष हुआ है, जिस प्रकार दूसरे प्राणियों को कष्ट देनेवाले विषपूर्ण बिच्छू और सर्प के वध से साधुजन भी प्रसन्न होते हैं। आपने अपने क्रोध से संसार-भयकारी असुर का वध करके लोगों के भय को दूर किया है। अतएव अब इस क्रोध को भयहारी मान कर भी धारण करने की आवश्यकता नहीं। आपके इस नृसिंह-रूप का स्मरण ही लोगों की भय-निवृत्ति के हेतु पर्याप्त है। अतः क्रोध शान्त कर इन ब्रह्मादि देवताओं के भय को दूर कीजिये। हे भगवन्! हे अजित! मैं आपके अतिभयानक मुख, विद्युत् के समान लपलपाती हुई जीभ, प्रचण्ड सूर्य के समान नेत्र, कुटिल भृकुटी और उग्र डाढ़ों को देख कर भयभीत नहीं हूँ। दैत्यराज की आँतों की इस रुधिराक्त माला के धारण से, रुधिर से भीगे हुए बालों से, खड़े हुए कानों से, दिग्दिगन्त को कम्पायमान करनेवाले आपके गर्जन-तर्जन से तथा शैल-शिखरों के विदारने योग्य भयङ्कर नखों से मुझे नाममात्र का भय नहीं है। हे कृपावत्सल! मैं तो इस दुःसह संसाररूपी

क्रूर चक्र के भय से भयभीत हूँ। संसार का असह्य दुःख मुझसे सहन नहीं हो रहा है, भगवन्! इस संसार में जहाँ देखता हूँ वहीं चारों ओर हिंसक जीवों ने डेरा डाल रक्खा है। मैं अपने कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ भी आपसे विनय करता हूँ कि हे श्रेष्ठतम! आप अपने चरणों की शरणागतिरूपी मोक्ष देकर मुझे अपने समीप कब बुलावेंगे? इस संसार में प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग अर्थात् जन्म-मरणादि शोकरूपी अग्नि से जलता हुआ मैं नाना योनियों में भ्रमण करने के दुःख से बचने के लिये ही आपके दास्य-योग को चाहता हूँ। हे भूमन्! मुझे अपनाइये। हे नाथ! आपके दास्य-योग को प्राप्त कर लेने पर ये सांसारिक विघ्न मेरा कुछ नहीं कर सकेंगे। ब्रह्मादि देवताओं द्वारा कीर्तित आपकी कृपा से आपके दास्य-योग द्वारा मैं उन समस्त विघ्न-बाधाओं को तर जाऊँगा। यदि आप कहें कि 'संसार के दुःखों को मिटाने के लिये संसार ही में उपाय भी तो हैं, फिर तुम दास्य-योग क्यों चाहते हो,' तो मेरी विनती यही है कि, सांसारिक दुःखों को मिटाने के उपाय संसार में वस्तुतः आत्यन्तिक नहीं हैं, जो हैं वे क्षणिक हैं अथवा मिथ्याभासमात्र हैं। बालकों के रक्षक उनके माता-पिताओं के होते हुए भी बालक दुःखी देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो अजीगर्त के समान पिता ही वधिक भी देखे जाते हैं। रोगियों के लिये ओषधियाँ दुःखनिवारक मानी जाती हैं, किन्तु वस्तुतः वे भी कुछ नहीं हैं। क्योंकि भाँति-भाँति की ओषधि करने पर भी रोगियों की मृत्यु होती हुई देखी जाती है। मनुष्यों को समुद्र में नौका, जहाज

शरण हैं किन्तु नौका और जहाज के साथ भी मनुष्य डूबते हुए देखे जाते हैं। अतएव हे नाथ! ये सांसारिक उपाय क्षणिक हैं और अनिश्चित हैं। आपकी शरणागति, आपका दास्य-योग दृढ़ और आत्यन्तिक उपाय है। हे भगवन्! कदाचित् कहीं किसी कारणवश यदि कोई रक्षक के रूप से दिखायी पड़ता है तो वह आपसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है। पिता आदि अर्वाचीन अथवा ब्रह्मा आदि प्राचीन कर्ता के रूप में जो दिखलायी पड़ते हैं, वे आप के ही स्वरूप हैं, रूपान्तरमात्र हैं। जिसमें, जिस निमित्त से, जिसके द्वारा, जिसके लिये, जिस हेतु से, जो कुछ कार्य, पुरुष करता है वह सब आप ही का स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। हे अज! आपकी अनुमति से ही आपके अंश, पुरुष के मन को आपकी माया उत्पन्न करती है। आपकी माया, कालचक्र से प्रेरित होकर ही मन को उत्पन्न करती है। वह मन कर्ममय, बलवान्, दुर्जय और वेदोक्त कर्मप्रधान माया के वशीभूत होकर उसके भोग के लिये षोडशविकाररूपी आरोंवाला संसार चक्रात्मक है और बड़ा ही दुस्तर है अतएव आपसे पृथक् रह कर अर्थात् आपको न भजते हुए—दास्यभाव से रहित उस बली मन को कौन नियन्त्रित कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं। हे नाथ! आप अपने परम धाम की चित्‌रूपी शक्ति से सदा विजयी हैं। आपने अपने बुद्धिगुण को विजय किया है और मायाप्रेरित काल के कार्यों को अपने वश में रक्खा है। अतएव जैसे ईख पेरते समय किसान उसको खींचता है उसी प्रकार आप मुझको अपनी ओर खींचें। यदि आप

कहें कि संसार से क्यों इतना घबड़ाते हो, अपने पिता का राज्य भोगो और लोकपालों के भोगों का भोग करो, तो यह ठीक नहीं। मैंने देखा है कि जिन लोकपालों के ऐश्वर्य, सम्पदा, विभव, आयु आदि मेरे पिता के प्रसन्न होने से बनते और क्रोध करने से क्षणभर में बिगड़ते थे, उनके भोग कुछ भी नहीं हैं। जिन हमारे पिताजी के ये सब अधीन थे, आपने क्षणभर में ही उनको नष्ट कर दिया है। अतएव मैं सब जान-बूझ कर भी उस काल-कवलित ब्रह्मादि देवताओं से लेकर साधारण जन के भोगों को भी नहीं चाहता। मैं तो केवल आपकी दासता चाहता हूँ। कृपया आप मुझे अपने समीप बुलाइये। कहाँ तो कानों को सुख देनेवाले मृगतृष्णा के समान आशीर्वचन और कहाँ अशेष रोगों का उद्भव स्थान यह शरीर। फिर भी बड़े-बड़े विद्वान् भी इस संसार में कामना से विरत नहीं होते। यह भी आपकी माया का जाल ही है। बड़े-बड़े विद्वान् कामरूपी दावानल को नाममात्र के सुखविन्दु से शमन करने में व्यग्र हैं और आपकी शरणागति के लिये अवकाश नहीं पाते। यह भी एक आश्चर्यमयी आपकी माया ही है और कुछ नहीं।

हे नाथ! कहाँ रजोगुण से इस तामसप्रधान असुरकुल में मेरा जन्म और कहाँ आपकी यह परम कृपा? जिस करकमल को आपने ब्रह्माजी के सिर पर कभी नहीं रक्खा, महादेवजी के सिर पर भी नहीं रक्खा और न जगन्माता साक्षात् रमा के ही मस्तक पर रक्खा है, उसी करकमल को प्रसन्नतापूर्वक आप मेरे सिर पर फेरते हैं, इससे अधिक कृपा और क्या हो सकती है?

यद्यपि अपने-पराये की बुद्धि जैसी मनुष्यों में होती है वैसी आपमें नहीं है। आप तो सारे संसार के अहैतुक हितू हैं, तथापि आप पर-अवर-बुद्धि से नहीं, कल्पवृक्ष के समान सेवा के अनुसार शुभ फल देते हैं, इसमें सन्देह नहीं। हे भगवन् ! आपके परम भक्त महर्षि नारदजी ने संसाररूपी महासर्प से ग्रसित भव-कूप में परितप्त मुझको अपनी कृपा से कृतार्थ किया है—अपनाया है, फिर मैं कैसे आपके दासों की सेवा का परित्याग करूँ ? हे अनन्त ! आपने अपने भक्त नारदजी के वचनों को सत्य करने के लिये पिताजी को मार कर मेरे प्राणों की रक्षा की है। जिस समय असाधु-बुद्धि से मेरे पिताजी ने तलवार लेकर मुझसे कहा कि बतला, तेरी रक्षा करने-वाला मेरे अतिरिक्त कौन ईश्वर है ? यदि नहीं बतलावेगा तो अभी तेरा सिर काट लेता हूँ; उसी समय आपने उनको मार कर मेरे प्राणों की रक्षा की है। मेरे ही क्या, इस सारे जगत् के एकमात्र आप ही रक्षक हैं, इसके आदि में उत्पन्न करनेवाले, अन्त में नाश करने-वाले और मध्य में रक्षा करनेवाले एकमात्र आप ही हैं। आप ही अपनी माया से इस विश्व को रच कर, इसके गुणों से प्रतीत होते हैं और उसके पश्चात् इसके एक-एक अंश में भी आप ही प्रविष्ट हैं। हे ईश्वर ! जगत् में सत् आप हैं और असत् भी आप ही हैं। अपनी और परायी वस्तुओं की बुद्धि जिस समय उत्पन्न होती है, उस समय आप ही की माया की लीला रहती है। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश आपकी लीला है। जिस प्रकार सभी वस्तुओं के उत्पन्न होने के समय बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति

अन्योन्याश्रयरूप से होती है, उसी प्रकार संसाररूपी वृक्ष के बीजरूप और आपके विराट्रूप का यह संसार बीजरूप है। जिस समय महाप्रलयकाल आता है, आप उस समय इस विश्व को जल में रख कर योगदृष्टि से नेत्रों को बन्द कर शयन द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। तुरीयावस्थामें प्राप्त होकर सारे गुणों का संसर्ग छोड़ शयन करते हैं। हे स्वामिन्! उसी समय अपनी माया-शक्ति से प्रेरित आपके इस लीलामय शरीर से आत्मा में छिपे हुए कणुका के समान वट-सदृश महा कमल की उत्पत्ति हुई और आप शयन से जागे। उसी कमल से ब्रह्माजी हुए और उन्होंने उस समय आपके अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं देखा। वे सौ वर्षों तक इस बात की चिन्ता करते रहे कि यह कमल कैसे उत्पन्न हुआ? बिना बीज का यह वृक्ष कहाँ से आया? ब्रह्माजी ने विस्मय को त्याग कर तप किया और तीव्र तप के प्रभाव से उनको ज्ञान प्राप्त हुआ एवं उनके हृदय के भाव शुद्ध हुए। भाव की शुद्धि होते ही जैसे भूमि में सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है वैसे ही ब्रह्माजी को अपने आत्मा में ही अति सूक्ष्मभूत इन्द्रिय—अन्तःकरण में ईश्वर के दर्शन हुए। भगवान् का विराट्-रूप ब्रह्माजी ने देखा, जिसके हजारों सिर, हजारों चरण, हजारों हाथ, हजारों उरु और हजारों मुख, नाक, कान, आभरण एवं आयुध दिखलायी पड़े। ऐसे मायामय स्वरूप को, जो साधुओं को योगदृष्टि से देख पड़ता है, ब्रह्माजी ने आपकी कृपा से देखा और वे परम आनन्द को प्राप्त हुए। इतना ही नहीं, आपने

ब्रह्माजी पर यह भी अनुग्रह किया कि हयग्रीव-अवतार धारण कर वेदद्रोही महा बलवान् मधु-कैटभ नामक दैत्यों को मार कर वेदों को लाकर ब्रह्माजी को दिया। उस समय सत्त्व, रज, तम-प्रिय आपके शरीर के प्रति सब लोगों ने प्रणाम किया था। इसी प्रकार मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता तथा जलचर के शरीर में अवतार धारण कर समय-समय पर आप जगत् के नाश करने-वाले असुरों और मनुष्यों को मारते हैं। हे महापुरुष! आप सदैव सनातनधर्म की और कलि-प्रभाव से लुप्तप्राय धर्म की रक्षा करते हैं तथा युग-युग में सदा सत्त्वावच्छिन्नरूप धारण करते हैं। हे वैकुण्ठनाथ! यह पापी, दुष्ट, असाधु एवं तीव्र गतिवाला चञ्चल मन, आपकी कथा में कभी लगता नहीं। कामातुर हो हर्ष, शोक, भय आदि की दृष्टि से सदा दुःखी रहता है। ऐसे मन से मुझ-जैसा नादान पुरुष आपकी गति को कैसे जाने? हे अच्युत! रस-विषय में लीन यह जिह्वा सदैव अतृप्त रहती हुई मुझे न जाने कहाँ खींचे ले जा रही है। शिश्न विषय की ओर खींचता है, त्वचा अपनी ओर ले जा रही है, उदर न जाने कहाँ ले जा रहा है, कान शब्द की ओर, नाक घ्राण-विषय की ओर और दृष्टि सुन्दर रूप की ओर खींच रही है। सभी कर्म-शक्तियाँ जीव को अपनी-अपनी ओर खींच रही हैं। जिस प्रकार अनेक स्त्रीवाले पुरुष को सब स्त्रियाँ सौतियाडाह से अपनी-अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये कष्ट देती हैं, उसी प्रकार इस जीव को ये सारी इन्द्रियाँ सताती हैं। इस प्रकार अपने कर्मों से संसाररूपी वैतरणी नदी में पड़ा हुआ यह जीव, अनेक जन्म

लेता, मरता, खाता, डरता, डराता एवं अपने-पराये से मैत्री-वैर करता हुआ, मूढ़ता को प्राप्त हो रहा है। ऐसे इस मूढ़ जीव का हे भगवन् ! यदि आप ही उद्धार करें, तो हो सकता है। संसार की उत्पत्ति, पालन एवं नाश के आप ही कारण हैं। अतएव आपको इस मूढ़ जीव के उद्धार करने में अधिक परिश्रम नहीं हो सकता। हे आर्तबन्धो ! आप तो सदा ही मूढ़ों पर, भोले-भाले जीवों पर बड़ी ही कृपा करते हैं, फिर जो आपकी सदा सेवा करते हैं, आपके भक्त हैं उनपर कृपा करें तो कौन-सी आश्चर्य की बात है ? हे परमेश्वर ! आपके चरित्रगानरूपी महा अमृत में मग्न मैं अपने लिये इस दुरत्यय वैतरणी से नहीं डरता, किन्तु जो मनुष्य आपके चरणारविन्द से विमुख हैं और माया-मोहित हो इन्द्रियों के सुख के लिये सांसारिक भार उठा रहे हैं, उन मूढ़ों के लिये मैं सोच करता हूँ। हे भगवन् ! यदि आप कहें कि तू अपनी मुक्ति को ग्रहण कर, इन सब सांसारिक प्राणियों को तत्त्वज्ञ मुनि लोग उपदेश देकर मुक्त करावेंगे सो ठीक नहीं। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि मुनिगण मुक्ति प्राप्त करने के लिये निर्जन वन में जाकर मौनव्रत धारण करते हैं और दूसरे पुरुषों को उपदेश द्वारा उद्धार करने की निष्ठा नहीं रखते। अतएव इन मूढ़ प्राणियों के उद्धार के लिये आपके अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नहीं है। इनको छोड़ कर मैं अकेला मोक्ष नहीं चाहता। यदि आप कहें कि ये सांसारिक प्राणी स्त्री-सुखादि से सुखी हैं, दुखी और कृपण नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार एक हाथ

की खुजली को दूसरे हाथ से खुजलाने से वह और भी बढ़ती है—घटती नहीं, उसी प्रकार ये मैथुनादि सुख गृहस्थों के लिये तृप्तिकारक नहीं, लिप्तकारक हैं, अतएव ये सांसारिक जीव सुखी नहीं, कृपण और दुःखी हैं। कामादि सुख को खुजली के समान ही लोग—विद्वान् लोग सेवन से बढ़नेवाला रोग जानते हैं।

हे नाथ! मौनव्रत, श्रुत, तप, अध्ययन, स्वधर्म, धर्मव्याख्या, एकान्त में ध्यान, जप और समाधि—ये सभी कर्म मोक्ष के साधन हैं। किन्तु इन सत्कर्मों के करनेवालों की अजितेन्द्रिय लोग हँसी करते हैं। दम्भी लोग उनकी नकल करते हैं और अच्छे लोग उनकी प्रशंसा करते हैं। आपके अरूपी सत् और असत् रूप, वेद के द्वारा रचे गये हैं और बीजाङ्कुर के समान अन्योन्याश्रय हैं। योगिजन दोनों ही रूपों को ढूँढ़ते हैं और योगदृष्टि से प्रत्यक्ष देखते हैं। जिस प्रकार वे अरणिका से अग्नि निकालते हैं उसी प्रकार आपमें आपको प्रकट करके देखते हैं। हे भूमन्! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल—ये पञ्च महातत्त्व और इनकी मात्राएँ, प्राण, इन्द्रियाँ, हृदय, चित् और अनुग्रह यह जो कुछ सगुण-निर्गुण है तथा मन-वचन द्वारा जो कुछ जाना एवं कहा जा सकता है, वह सब आप ही हैं—आपसे भिन्न संसार में कुछ भी नहीं है। हे उरुकाय! ये सब गुण-अवगुण एवं महदादि तथा मनु से लेकर देव, मनुष्यपर्यन्त सब आपहीको मानते हैं, इसी विचार से बुद्धिमान् जन, शब्दमात्र के उच्चारण से केवल शास्त्रज्ञान से विराम को प्राप्त

होते हैं। हे पूज्यतम! इसी कारण आपको नमस्कार, आपकी स्तुति, आपकी पूजा, आपका स्मरण, आपकी कथा का श्रवण और आपको आत्मसमर्पण इस षडङ्गभक्ति बिना उत्तम गति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये परमहंस की गति में ही लोग इस परमोत्तम भक्ति को प्राप्त होते हैं।

प्रह्लादजी की स्तुति के अन्तिम भाग का वर्णन स्व० त्रा० बान्धवेश महाराज रघुराजसिंहजी ने कविता में किया है—

छन्द चौपैया

नभ अनल समीरा धरनी तीरा इंद्रिय मन अरु प्राना।
गुण त्रिगुणहु जेते मन बचनेते सबमें तुम भगवाना॥
सुर नर मुनि जेते विनशहिं तेते जनमहि पुनि जग माँहीं।
विधि आदि सुरेशा शेष महेशा तुमको जानत नाहीं॥
यह गुनि मन संता बैठि एकंता तजहिं तुरत संसारै।
करि भक्तिहि रीती तुव पद प्रीती तुव पुर आशु सिधारै॥
यह सरल उपाई अति सुखदाई केहु के मन नाहिं आवै।
ताते जग जीवा लहि दुख सींवा मंगल कतहु न पावै॥
प्रभु तुव पदबंदन सब दुख-द्वंद्वन अस्तुति तुव सुखदाई।
पूजनहु तिहारो अति अघहारो पद शुचिप्रद शुचिताई॥
तव कथा सुहावनि प्रीति बढ़ावनि कलि-कलमष की हरनी।
भव पारावारा अतिहि अपारा ताकी तारन तरनी॥

दोहा

ये षट्विधि सेवन बिना, कैसेहु भक्ति न होइ ।
ताते कीजे मोहि निज, दास दुरित सब धोइ ॥

इस प्रकार अपने भक्त प्रह्लादजी की विस्तृत स्तुति सुन कर भगवान् नृसिंहजी ने अपना तेजोमय विकराल रूप सौम्य एवं मनोहर कर लिया और बारम्बार की घोर गर्जना को बन्द कर मधुर वाणी से कहा—'हे प्रह्लाद ! हे भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ । हे असुरोत्तम ! तुमको जो अभीष्ट हो वही 'वर' माँगो । मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा ।' भगवान् के इस प्रकार कहने पर भी परम भागवत प्रह्लाद ने कोई वर नहीं माँगा । उन्होंने कहा—'भगवन् ! मैंने कामनाओं से पिण्ड छुड़ाने ही के लिये आपके चरणों की शरणागति की है । फिर भी आप मुझे उसी कामना के बन्धन में बाँधना चाहते हैं, यह बड़े अचरज की बात है । अवश्य ही आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं किन्तु वस्तुतः आप ऐसा कभी करेंगे नहीं, क्योंकि आप दया-निधि हैं । आप अवश्य ही मुझपर दया करेंगे और इस कामना-मय संसार के बन्धन से मुझे छुड़ावेंगे । हे नाथ ! जो दास अपने स्वामी से सेवा का बदला चाहता है वह दास, दास नहीं, पूरा बनिया है और जो स्वामी अपने दास से सेवा करवा कर उसको कुछ देकर टालने की इच्छा करता है, वह स्वामी भी स्वामी कह-लाने योग्य नहीं है । भगवन् !—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥

दोहा

तुम अकाम मम नाथ हौ, मैं अकाम तव दास ।
लोभी चाकर स्वामि सम, मैं तुम नहिं युत आस ॥

इतने पर भी यदि आप मुझको वर माँगने की ही आज्ञा देते हैं, तो मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करता हूँ, इस दशा में मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि **'कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्'** हे नाथ ! मेरे हृदय में कभी किसी वस्तु की कामना का अङ्कुर ही पैदा न हो । क्योंकि जैसे ही मन में कामना उत्पन्न होती है, वैसे ही इन्द्रियाँ, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धृति, मति, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य नष्ट हो जाते हैं और जैसे ही कामना को मनुष्य अपने मन से निकाल फेंकता है वैसे ही वह भगवान् की कृपा से अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है । अतः मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे मन में कभी वर की इच्छा ही उत्पन्न न हो !

नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥

अर्थात् 'हे भगवन् ! आपको मेरा नमस्कार है । परब्रह्म परमात्मा को मेरा नमस्कार है । आपके इस अद्भुत सिंहरूपी मूर्ति को और इस महापुरुष स्वरूप को मेरा बारम्बार नमस्कार है ।' प्रह्लादजी ने इतना सब कुछ कहने के पश्चात्

भगवान् के बारम्बार कहने पर एक वर माँगा, वह यह कि 'हे नाथ ! मेरे पिताजी ने आपको अपने भाई के मारनेवाला कह कर जो आपका अपमान किया है, आपके ईश्वरत्व-तेज की जो निन्दा की है और मुझे आपके भक्त होने के कारण जो सताया है, इन सब पापों से मेरे पूज्यपाद पिताजी को आप मुक्त कर दें।'

प्रह्लादजी के वचनों को सुन कर भगवान् नृसिंहजी बड़े ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि 'तुम-जैसे परमभागवत के लिये कामनारहित होना ही ठीक है। इसीसे तुम कोई वर नहीं माँगते। किन्तु मैं तुमको अपनी ओर से यह वर देता हूँ कि इस चाक्षुष मनु के समय तक तुम अक्षय राज-सुख भोगो और अन्त में मेरे पद को प्राप्त होओ। अपने पिताजी के विषय में तो तुमको सन्देह ही न करना चाहिए। क्योंकि तुम-जैसे परमभागवत जिस कुल में उत्पन्न होते हैं, उस कुल के इक्कीस पुरुष पवित्र हो जाते हैं। फिर तुम्हारे पिता की तो बात ही क्या है। वे तो मेरे हाथों मृत्यु को प्राप्त हुए हैं।'

भगवान् श्रीनृसिंहजी को प्रसन्न जान महालक्ष्मीजी भी उनके निकट जा विराजीं। तदनन्तर देवता, यक्ष, गन्धर्व आदि सभी लोग उनकी स्तुति करने लगे। सबसे पहले ब्रह्माजी ने कहा कि—'भगवन् ! आपका यह अद्भुत रूप हम लोगों ने कभी नहीं देखा था। हम लोग इस रूप को देख कर स्तम्भित हो गये थे। नाथ ! प्रह्लाद के सम्बन्ध से देवताओं के प्रबल शत्रु दैत्यराज का आपने बध कर संसार में सुख-शान्ति की स्थापना की है। अतः

यह समय बड़े आनन्द का है। भगवन् ! आपके चरणों में बारम्बार हमारा प्रणाम है।'

शिवजी—'स्वामिन् ! आज तो आपने पूरा प्रलय-काल का-सा दृश्य ही उपस्थित कर दिया था। दैत्यराज का नाश कर आपने जो देवताओं का सङ्कट काटा है उसका सबसे अधिक श्रेय परमभागवत प्रह्लाद ही को है। अतः हम उनको अन्तःकरण से आशीर्वाद देते हैं।'

देवराज इन्द्र—'दीनबन्धो ! अशरण-शरण ! नाथ ! आपने प्रबल प्रतापी असुर हिरण्यकशिपु का बध करके हम देवताओं की रक्षा की है। इसके लिये आपके चरणों में मेरा बारम्बार साष्टाङ्ग प्रणाम है। भगवन् ! दैत्यराज के बध में प्रह्लाद की अविचल भक्ति ही मुख्य कारण है।'

महर्षि नारद—'हे भक्तवत्सल ! आपने दैत्यराज को मार कर परमभागवत प्रह्लाद तथा अन्यान्य भागवतों के धर्म और प्राणों की रक्षा की है। इसके लिये आपके चरणों में मेरा सादर प्रणाम है।'

प्रजापति—'हे नाथ ! हम लोगों ने आपकी आज्ञा से जो सृष्टि की थी, उसको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाला दैत्यराज आज आपकी कृपा से स्वयं नष्ट हो गया है। यह बड़े आनन्द की बात है।'

गन्धर्व—'हे विभो ! हम लोगों को जो दैत्यराज बलात् अपने अधीन रख नचाता-गवाता तथा तंग किया करता था, उसकी आपने यह दशा की। इसके लिये हम लोग आपके चरणकमलों में कोटिशः साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं।'

पितर—'हे नरहरि ! जिस दैत्यराज ने अपने बल से सारे संसार के पुत्रों के दिये हुए पिण्डदान और तिलाञ्जलि को अपने

पेट में भर लिया करता था, उसका आपने पेट फाड़ डाला है इस कारण हम लोगों को बड़ा आनन्द है। अतएव आपके चरणों में हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।'

नाग—'भगवन्! जिस पापी दैत्य ने हमारी स्त्रियों और रत्नों को हर लिया था, आज उसका हृदय विदीर्ण करके आपने जो हम लोगों को आनन्द प्रदान किया है इसके लिये आपको हम बारम्बार प्रणाम करते हैं।'

इसी प्रकार ऋषिगण, सिद्धगण, विद्याधरगण, मनु, चारणगण, यक्षगण, किंपुरुष, वैतालिक, किन्नरगण तथा विष्णुपार्षदों ने भी भगवान् की स्तुति की और परमभागवत प्रह्लादजी को आशीर्वाद-पूर्वक मनवाञ्छित वर अर्थात् भगवान् की अविचल भक्ति सदा बनी रहने का वर प्रदान किया। भगवान् नृसिंहजी महाराज की आज्ञा से ब्रह्मादि देवताओं ने तथा महर्षियों ने प्रह्लादजी को दैत्यराज के राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर उनको दैत्यों का अधीश्वर बनाया। पद्मपुराण में कहा है कि—

ततो देवगणैः सार्द्धं सर्वेशो भक्तवत्सलः।
प्रह्लादं सर्वदैत्यानां चक्रे राजानमव्ययम्॥
आश्वास्य भक्तं प्रह्लादमभिषिच्य सुरोत्तमैः।
ददौ तस्मै वरानिष्टान् भक्तिं चाव्याभिचारिणीम्॥

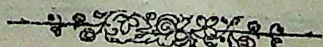
अर्थात् 'स्तुतियों के पश्चात् देवगणसहित भक्तवत्सल भगवान् ने अनेक ज्येष्ठ भ्राताओं के होते हुए भी समस्त दैत्यसाम्राज्य के राजसिंहासन का स्वामी प्रह्लाद ही को बनाया और उनको आश्वासन

देकर उनका राज्याभिषेक भी किया तथा अनेक वरों के सहित उनकी मनवाञ्छित अपने चरणों की अविचल भक्ति भी दी ।'

इतना सब हो जाने पर भगवान् नृसिंहजी ने ब्रह्माजी से कहा—'आप अब भविष्य में कभी किसी दैत्य को ऐसा वर न दें। क्योंकि सर्प को दूध पिलाने से विष ही तो बढ़ता है ।' ब्रह्माजी ने यह आज्ञा शिरोधार्य की और भक्तवत्सल भगवान् अपने वात्सल्यरस की महिमा दिखला कर अन्तर्धान हो गये । इसी कथा के प्रसङ्ग का माहात्म्य श्रीमद्भागवत में इस प्रकार लिखा है—

य एतत्पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशाद्विमुच्यते ॥
एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥

अर्थात 'जो मनुष्य भगवान् विष्णु की प्रभुतापूर्ण इस पुण्य-कथा को सुनते अथवा कहते हैं वे संसार के कर्मरूपी बन्धन से मुक्त हो जाते हैं । इस आदिपुरुष भगवान् नृसिंहजी की लीला को तथा दैत्यराज के बध की कथा को जो मनुष्य नित्य पढ़ते हैं और परमभागवत प्रह्लादजी के पुण्यप्रद उपाख्यान को सुनते हैं उनको लोक में किसी प्रकार का कोई भय नहीं रहता ।'



छब्बीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद का गार्हस्थ्यजीवन

पिता का साम्परायिक कर्म

विवाहोत्सव और राज्याभिषेकोत्सव



गवान् के अन्तर्धान हो जाने पर ब्रह्मादि देवतागण भी अपने-अपने स्थान को चले गये और सुरराज इन्द्र तथा सब-के-सब दिक्पाल प्रह्लाद के प्रति स्नेहमयी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने-अपने पदों पर जा विराजे। इधर ये लोग अपने-अपने स्थानों को गये और उधर महर्षि शुक्राचार्य तथा अन्यान्य ऋषि-मुनि-गण और प्रह्लादजी के दोनों गुरु षण्ड एवं अमर्क भी दैत्यराज का बध सुन कर वहाँ जा पहुँचे। दैत्यराज के साम्परायिक कर्म की तैयारी होने लगी और विधवा राजमाता कयाधू अपने प्राणपति के वियोग में व्याकुल हो पति के शव के साथ सती होने को तैयार हुई। उस समय मातृभक्त प्रह्लाद की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। वे कुछ बोलने का साहस नहीं करते थे। अपने ही कारण पिता की मृत्यु होने के कारण प्रह्लादजी माता के सामने जाने में बड़े ही सकुचा रहे थे। प्रह्लादजी ज्ञानी थे, विद्वान् थे, संसार को असार समझते थे और जीवन्मुक्त थे, किन्तु माता की स्नेहमयी मूर्ति को विलपते देख, वे बहुत ही दुखी थे। लौकिकरूप में वे समझते थे कि माता के वैधव्य का कारण मेरा ही शरीर है।

अतएव वे लज्जित थे और माता के सामने जाने का साहस नहीं करते थे।

शुक्राचार्यजी ने उनके आन्तरिक भावों को भली भाँति समझ कर विधवा राजमाता कयाधू को समझाया और कहा—'बेटी! शोक मत कर, भावी बड़ी प्रबल होती है। जो अनिवार्य था, वह हो गया! तेरे ये पुत्र तुझको दुःखित देख दुःखी हो रहे हैं और तेरा प्राण प्रह्लाद तो अत्यन्त ही व्याकुल है। तू सावधान हो और अपने पतिदेव के साम्परायिक कर्म कराने के लिये पुत्रों को उत्साहित कर। इस समय तेरा सती होना उचित नहीं। तू राजमाता है और आज प्रह्लाद का समावर्तन-संस्कार ऐसे अवसर पर हो रहा है कि जो संस्कार के रूप में नहीं, एक आपत्तिधर्मरूप में है। उसके विवाह के पहले तेरा संसार से विदा होना उसके गार्हस्थ्यधर्म में बड़ा बाधक होगा। अवश्य ही तू अपने प्राणपति की अनन्य भक्ता है अतः पतिदेव की अनुगामिनी बनना तेरे लिये स्वाभाविक ही है! किन्तु तू जैसी पतिव्रता है वैसे ही पुत्रवत्सला भी तो है। यह सनातन प्रथा है कि पुत्रवत्सला माताएँ *'आत्मा वै जायते पुत्रः'* को मान कर पतिदेव का चिन्तन करती हुई जीवित रह कर अपना पवित्र जीवन ब्रह्मचर्य से बिताती हैं। इस समय धैर्य धारण करके तू शोक को दूर कर और अपने प्राणप्रिय पुत्र प्रह्लाद की ओर देख। उसको दुःखी छोड़ तुझको सती होना उचित नहीं है।'

राजमाता कयाधू—'भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु क्या करूँ? व्याकुल हृदय नहीं मानता। चित्त यही चाहता

है कि जिन प्राणपति के आज्ञानुरार मैं सदा रहती थी, जो प्राणपति मुझे अपनी हृदयेश्वरी मानते थे, आज वे अपने सारे राजपाट, सारे परिजन एवं पुरजन को छोड़, अकेले सुदूर यात्रा को जा रहे हैं, नियमानुसार उनकी सेवा के लिये मैं ही उनकी अनुगामिनी हो सकती हूँ, फिर भी मैं यदि उनको छोड़ संसार के बन्धन में पड़ी रहूँगी तो मेरा कर्तव्य पूरा न होगा और मैं सती कैसे कहलाऊँगी? आचार्यप्रवर! आप मुझे आज्ञा दें कि मैं प्राणप्रिय पुत्र प्रह्लाद का स्नेह हृदय में रखती हुई अपने स्वामी की सहगामिनी बनने के लिये सती हो जाऊँ। प्रह्लाद को आप समझा दें। वह शोक न करे और मेरे लिये, स्वामी के साथ सती होने का उपकरण ठीक करा दे।'

शुक्राचार्य—'राजमाता, बेटी कयाधू! हम तेरे हृदय को भली भाँति जानते हैं। जो कुछ तूने कहा है, शास्त्र और लोक की मर्यादा के सर्वथा अनुरूप है, किन्तु हमारी इस आज्ञा के पालन में भी शास्त्र और लोक की मर्यादा नहीं बिगड़ती। एक ओर हमारी आज्ञा और शास्त्र-लोक की मर्यादा है और दूसरी ओर शास्त्र-लोक की मर्यादा तथा तेरा हार्दिक दुःख है। अतएव तुझे जो अच्छा प्रतीत हो वही कर। दुःखित प्राणी को अपने विवेक का ज्ञान नहीं रह जाता। अतएव यदि तू हमारी आज्ञा का पालन करेगी तो तेरा दोनों ही लोक में कल्याण होगा।'

शुक्राचार्यजी की आज्ञा मान माता कयाधू ने सती होने का विचार त्याग दिया। प्रह्लादजी ने माता की आज्ञा से बड़े उत्साह

एवं समारोह के साथ वैदिक-विधि से अपने पूज्यपाद पिता दैत्यराज का साम्परायिक कर्म किया। साम्परायिक कर्म में सभी असुरों ने और विद्वान् ब्राह्मणों ने भाग लिया। इस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपु की अन्त्येष्टि क्रिया के साथ-साथ उनकी अन्तिम कथा भी समाप्त हुई।

यद्यपि भगवान् श्रीनृसिंहजी के सहित ब्रह्मादि देवताओं ने हिरण्यकशिपु के बध के समय ही प्रह्लाद का राज्याभिषेक कर दिया था और वे नियमानुसार राजकाज चलाने लगे थे तथापि विधिपूर्वक राज्याभिषेक होना तथा राज्याभिषेक का महोत्सव मनाना शेष था। यद्यपि प्रह्लादजी गुरुकुल में शिक्षा समाप्त करके समावर्तित हो अपने घर आ गये थे तथापि उनका सविधि गार्हस्थ्य-धर्म का— गृहस्थाश्रम का आरम्भ, विवाह न होने के कारण अभी नहीं हुआ था। अतएव शुक्राचार्य, मन्त्रिगण तथा महर्षियों की सम्मति से राजमाता कयाधू ने सबसे पहले प्रह्लादजी के विवाह का प्रबन्ध किया। प्रह्लाद के विवाह के लिये उनकी ही योग्यता की कन्या की खोज होने लगी। किन्तु वैसी कन्या अन्यत्र कहीं नहीं मिली। अन्त में राजमाता को पता चला कि उनके पतिदेव के बूढ़े मन्त्री वज्रदन्त की एकमात्र कन्या 'सुवर्णा' बड़ी ही योग्य और सुवर्णा ही नहीं सर्वतोभाव से सुलक्षणा भी है। राजमाता को यह भी सूचना मिली कि जबसे प्रह्लादजी ने भगवद्भक्ति का व्रत स्पष्टतया ग्रहण किया था और असुर-बालकों में उसका प्रचार आरम्भ किया था, तभीसे सुवर्णा भी हरिभक्ति के साथ-साथ प्रह्लाद की भक्ति में लीन रहती है और उसकी आन्तरिक इच्छा है कि वह प्रह्लाद ही को अपना

हृदयेश्वर—प्राणपति बनावे। अन्ततोगत्वा राजमाता ने अपने भाई कुम्भनाक आदि की सम्मति लेकर शुक्राचार्यजी से विवाह-विधि मिलाने की प्रार्थना की। आचार्यजी ने विधि मिला कर कहा—'सर्वगुणसम्पन्न मेलापक ठीक है। बेटी! इस विवाह से वर-वधू दोनों ही को आनन्द रहेगा।'

महाराज प्रह्लाद का विवाह किस धूम-धाम से हुआ, उसमें कितना दान-पुण्य हुआ, इसका कवितापूर्ण वर्णन करना इसलिये व्यर्थ है कि, इस छोटे-से ग्रन्थ में उसका पूर्णतया समावेश ही नहीं हो सकता, अतः नाममात्र के वर्णन की अपेक्षा इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि एक सम्राट् के विवाह में जितना बड़ा महोत्सव हो सकता है, उतना ही महाराज प्रह्लाद के विवाहोत्सव में भी हुआ, और इस प्रकार उनका विवाह-संस्कार 'सुवर्णा' के साथ हो गया। दोनों की समान-शीलता के कारण प्रह्लाद और सुवर्णा में दाम्पत्य-प्रेम का आधिक्य होना स्वाभाविक था। अतएव राजाधिराज प्रह्लाद और राजराजेश्वरी सुवर्णा अपना गार्हस्थ्यजीवन सुख-शान्तिपूर्वक बिताने लगे!

अब प्रह्लादजी के राज्याभिषेक का विधान और उसका महोत्सव होनेवाला है। इस समाचार से सारे साम्राज्य में आनन्द मनाया जाने लगा और राज-दरबार की ओर से बड़ी धूम-धाम से तैयारियाँ होने लगीं। राज्याभिषेक का मुहूर्त निश्चित हुआ और

धीरे-धीरे वह दिन आ पहुँचा। चारों ओर बाजे बजने लगे, गन्धर्वों और अप्सराओं के सितार, तम्बूरे और नूपुरों की ध्वनि सर्वत्र छा गयी। सारे साम्राज्य में विशेषकर दैत्यर्षि की परम रमणीय राजधानी 'हिरण्यपुर' में बाजों-गाजों और नाच-गान की धूम मच गयी। सारा नगर माङ्गलिक वस्तुओं, मनोहर मालाओं और सुगन्धित पुष्पों से सजाया गया, एवं स्थान-स्थान पर भाँति-भाँति के सुगन्धित जलों से मार्ग वैसे ही छिड़के गये जैसे वे जल से छिड़के जाते थे। जिस ओर देखिये, जिस मार्ग और प्रासाद को देखिये, वही सुन्दर तोरणों से सुसज्जित दिखलायी पड़ता था। दैत्यराज का नगर देवराज की अमरावती की सौगुनी शोभा से संयुक्त दिखलायी पड़ता था। ज्यों-त्यों कर दिन का अवसान और रात्रि का शुभागमन हुआ। रात्रि के समय नगर में भाँति-भाँति के प्रकाशवृक्षों की सुषमा अनुपम थी। सारा नगर जगमगा रहा था। कल प्रातःकाल राज्याभिषेक होगा, चारों ओर यही चर्चा थी। दर्शकों की भीड़ से सारा नगर खचाखच भरा था। बड़े-बड़े राजमार्गों से लेकर छोटी-छोटी गलियों तक में खासी चहल-पहल थी। राज्याभिषेकोत्सव में योग देने के लिये और देखने के लिये साम्राज्य के लोग तो आये ही थे साथ ही तीनों लोक और चौदहों भुवन के देव, दानव, गन्धर्व आदि भी आये थे। इस महोत्सव में बड़े-बड़े राजाओं-महाराजों से लेकर तपोधन वनवासी महर्षिगण तक बड़े प्रेम और उत्कण्ठा के साथ राजधानी में पधारे थे।

राज्याभिषेकोत्सव के पूर्व देवताओं की आराधना के लिये जो यज्ञमण्डप बनाया गया था उसमें वैदिक-विधि से देवताओं की अर्चा-पूजा होते-ही-होते राज्याभिषेक का सुन्दर सुखद मुहूर्त आ गया। ब्रह्मादि देववृन्द, महर्षि शुक्राचार्य आदि विद्वान् तथा ब्राह्मणवृन्द की उपस्थिति में अभिषेक का कृत्य आरम्भ हुआ। आरम्भ में महाराज दैत्यर्षि प्रह्लाद को सपत्नीक मङ्गल-स्नान कराया गया, तदनन्तर राजदम्पती सुन्दर पवित्र वस्त्रों तथा आभूषणों से अलङ्कृत किये गये। स्नान के पश्चात् स्वस्तिवाचनपूर्वक राजदम्पती अभिषेक के शुभ स्थान में पहुँचे और वहाँ उपस्थित देवताओं तथा ब्राह्मणों को दोनों ने साथ-साथ प्रणाम किया। देवताओं और ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया। राजदम्पती के यथास्थान बैठते ही वेद-मन्त्रों के पाठ होने लगे। अन्यान्य आवश्यक कृत्यों के समाप्त होने पर गुरुवर तथा पुरोहित लोग, समस्त तीर्थों के जल को वेद-मन्त्रों द्वारा राजदम्पती के ऊपर दूर्वा में भिगो-भिगो कर छिड़कने लगे। इस प्रकार अभिषिक्त हो जाने के पश्चात् आचार्य शुक्रजी के सुपुत्र षण्ड ने महाराज दैत्यर्षि प्रह्लाद के मस्तक पर केशर का तिलक किया और स्वयं आचार्यजी ने शिर पर रत्नजटित सुन्दर मुकुट रक्खा और राजदण्ड हाथ में धारण कराया।

इस प्रकार राज्याभिषेक होते ही चारों ओर से अगणित प्राणियों के प्रसन्न मुख से प्रह्लाद और प्रह्लाद के प्रभु श्रीहरि के जय-जयकार की ध्वनि से आकाशमण्डल प्रतिध्वनित हो

उठा। इस राज्याभिषेक से सारी प्रजा का हृदय प्रसन्न हुआ, सभी सुरासुर प्रसन्न हुए तथा प्रसन्न हुई जननी जन्मभूमि, और सबसे अधिक प्रसन्न हुईं 'राजमाता कयाधू'। सारी प्रजा अपने को दैत्यर्षि के समान राजा पाकर धन्य-धन्य मानने लगी। इस खुशी में जो दान-पुण्य और धन-धान्य लुटाये गये उनका वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। राज्याभिषेक के पश्चात् ब्रह्मादि देवता, महर्षिगण एवं विद्वद्गण महाराज प्रह्लाद को आशीर्वादपूर्ण अनेकानेक वरदान देकर अपने-अपने स्थानों को चले गये।



सत्ताईसवाँ अध्याय

दैत्यर्षि प्रह्लाद का शासन

महर्षि शुक्राचार्य की नीति-शिक्षा

महर्षि नारदजी का उपदेश



जसिंहासन पर बैठने के साथ ही दैत्यर्षि प्रह्लाद ने जिस संयम और नियम के साथ शासनसूत्र को चलाया, वह परमभागवत प्रह्लाद के अनुरूप ही था। दैत्यर्षि के सिंहासनासीन होते ही सारे भूमण्डल में फिर एक बार सुखद साम्राज्य के प्रभाव से सत्ययुग ने अपना सत्ययुगी रूप धारण कर लिया। परलोकवासी हिरण्यकशिपु के आतङ्कपूर्ण शासनकाल में सारी प्रजा में विशेषकर शान्तिप्रिय वैष्णवजनता में जितना ही अधिक भय, कष्ट, अशान्ति एवं विपत्तियाँ छायी हुई थीं, उतना ही अधिक अभय, सुख, शान्ति और सम्पत्ति दैत्यर्षि प्रह्लाद के राजत्वकाल में चारों ओर दिखलायी देने लगीं।

सुशासन की सुविधा के लिये जितने नये नियमों के निर्माण की आवश्यकता होती उतने ही नियम दैत्यर्षि प्रह्लाद अपने राज-पण्डितों और तपोधन महर्षियों से सम्मति ले और सत् प्रजाजन की रुचि के अनुरूप निर्माण कराते थे। अतएव उनकी प्रजा में, राजसभा में और धर्मप्राण तपोधन महर्षियों में उनके शासन से पूर्ण शान्ति और सन्तोष फैल गया। राज्य में जिन प्राणियों के

कारण शान्ति-प्रिय प्रजाजनों को कष्ट था, दीन-दुखियों को त्रास था, और निर्दोष धनियों के धन की लूट थी—जिन प्राणियों के अत्याचार से प्रजा के जानमाल की या तो हानि हो रही थी या हानि होने की सम्भावना थी, उन सब अत्याचारियों को, चाहे वे राजकर्मचारी थे, राजसम्बन्धी थे या प्रजाजन में से थे, अधिकारच्युत कर दैत्यर्षि ने ऐसे आदर्श दण्ड दिये कि जिससे वे तो सदा के लिये शान्त हो ही गये, किन्तु दूसरों की भी वैसे कर्म करने की वासना नहीं रही।

दैत्यर्षि प्रह्लाद के शासनकाल में चारों वर्ण और चारों आश्रम के धर्मों का ऐसा सुन्दर पालन होने लगा कि, बहुत ही थोड़े काल में उनके पिता के समय की धर्म एवं धनहीन प्रजा धर्मप्राण एवं सर्वतोभाव से समृद्धिशालिनी बन गयी। जैसे पिता अपने पुत्र की भलाई के लिये सोते-जागते रात-दिन चिन्तित रहता है और उसके लिये नित्य नये-नये उपाय किया करता है, ठीक उसी प्रकार दैत्यर्षि प्रह्लाद भी पुत्र-समान अपनी प्रजा की भलाई में लगे रहने लगे।

सारे साम्राज्य में मातृहीन प्रजा अपनी माता के अभाव को और पितृहीन प्रजा अपने पिता के अभाव को भूल-सी गयी। दैत्यर्षि प्रह्लाद ने अपनी सभी श्रेणी की प्रजा, जनता और अन्य प्राणियों के भी पालन, पोषण, शिक्षण और संवर्धन के लिये ऐसा सुन्दर प्रबन्ध कर दिया कि, किसीको किसी प्रकार की

पीड़ा एवं असुविधा नहीं रही। सब लोग परम प्रसन्न होकर दैत्यर्षि की जय-जयकार मनाने लगे।

यद्यपि दैत्यर्षि के साम्राज्य में कोई शासन-सम्बन्धी त्रुटि नहीं थी, तथापि अपने शासन-सम्बन्धी गुप्त समाचारों को पाने के लिये दैत्यर्षि की ओर से अनेक गुप्त दूत केवल इसी काम के लिये रक्खे गये थे कि, वे देखते रहें कि शासन में कहाँ पर क्या त्रुटि है। प्रजा में शासन की ओर से असन्तोष तो नहीं है। इतना ही नहीं, उन गुप्त दूतों को यह भी आदेश था कि, वे देखते रहें कि राजा के कार्यों की कहीं पर अनुचित आलोचना तो नहीं हो रही है?

दैत्यर्षि प्रह्लाद के शासन में देश के कला-कौशल, कृषि-व्यापार आदि लौकिक-विषयों की जितनी ही उन्नति हुई उतनी ही उन्नति वेद-वेदाङ्ग, स्मृति-पुराण आदि पारमार्थिक आवश्यक शिक्षाओं की भी हुई। उनके पिता के समय साम्राज्य में जितने ही विष्णु-मन्दिरों और वैष्णवों के पवित्र स्थानों को तहस-नहस किया गया था, उतने ही अधिक दैत्यर्षि प्रह्लाद के राजत्वकाल में नये-नये विष्णु-मन्दिरों और वैष्णवों के पवित्र स्थानों का निर्माण और पुराने नष्ट-भ्रष्ट मन्दिरों एवं धर्म-स्थानों का जीर्णोद्धार हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि निष्काम हृदय दैत्यर्षि प्रह्लाद को राजकाज में रात-दिन लिप्त देख कर कुछ मन्दमति लोग मन-ही-मन कहते थे कि, 'जब तक प्रह्लाद के हाथ में राज्याधिकार नहीं था, तब तक तो ये बड़ी-बड़ी त्याग की बातें करते थे और राजपाट को संसार का कठिन बन्धन बतलाया करते थे, किन्तु

जबसे स्वयं सम्राट् हुए हैं, तबसे वे वेदान्त और भक्ति की बातें, वे त्याग के उपदेश और वह मोक्ष की महिमा हवा हो गयी है और राजपाट में स्वयं ही ऐसे चिपट गये हैं, जैसे मीठी वस्तुओं में चींटे चिपट जाते हैं और जीते-जी छोड़ना नहीं चाहते। लोगों का यह अनुमान अनुचित भी नहीं था, क्योंकि वे लोग दैत्यर्षि प्रह्लाद को अपनी दृष्टि से देखते थे, अपनी क्षुद्र-बुद्धि के तराजू पर तौलते थे। किन्तु प्रह्लाद में वस्तुतः ऐसी बात नहीं थी। वहाँ का रहस्य कुछ और ही था। दैत्यर्षि प्रह्लाद के स्वभाव में साम्राज्य-प्राप्ति से रत्तीभर भी परिवर्तन नहीं हुआ था। ब्रह्मचारी प्रह्लाद में और सम्राट् प्रह्लाद में तनिक-सा अन्तर नहीं पड़ा था। प्रत्यक्ष में जो कुछ अन्तर दिखलायी पड़ता था, वह लोगों के दृष्टिकोण का दोष था, उनके स्वभाव का नहीं। प्रह्लादजी जो कुछ करते थे सो सब भगवान् की आज्ञानुसार भगवत्प्रेरणा से भगवान् के लिये ही करते थे।

प्रह्लाद सम्राट् होकर भी पूर्ववत् निरभिमानी थे, शासन-दण्डधारी होकर भी प्राणिमात्र के लिये दयानिधान थे और गृहाश्रमी होकर भी परम विरागी थे। वे संसार को पूर्ववत् ही अब भी बन्धन ही समझते थे और उससे स्वयं दूर होने तथा समस्त प्राणियों को उससे दूर रखने की चेष्टा करते थे। वे जो कुछ करते थे सब इसी भावना से करते थे कि यह संसार हमारे प्रभु का विराट् स्वरूप है। इसके एक-एक अङ्ग की भक्ति करना, एक-एक अङ्ग की सेवा और पूजा करना हमारा

धर्म और कर्तव्य है। दैत्यर्षि अपने साम्राज्य का शासन इसी दृष्टि से करते थे और इसीलिये वे अपने आपको साम्राज्य के अधीश्वर नहीं, किन्तु साम्राज्यरूपी भगवत्-शरीर के कर्तव्यपरायण सेवक समझते थे और इसी कारण उनके हृदय में न तो अभिमान का लेश था और न क्रोध आदि छओं शत्रुओं के विकारी भाव ही थे। दैत्यर्षि प्रह्लाद के सर्वप्रिय होने का यही कारण था कि, उनको सारा साम्राज्य, अपनी सारी प्रजा समानरूप से प्यारी थी। वे सचमुच *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* के पुजारी थे।

जो अनवरत चलनेवाला समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु के राजत्वकाल में प्रजाजन के काटे नहीं कटता था और *'क्षणमपि यामति यामो दिवसाति दिवसाश्च कल्पन्ति'* अर्थात् 'एक क्षण पहर-पहर के बराबर, पहर दिन के बराबर और दिन कल्प के बराबर भारी प्रतीत होता था।' वही समय दैत्यर्षि प्रह्लाद की अमलदारी में ठीक उसके विपरीत अर्थात् युगों का समय दिनों के समान शीघ्र बीतने लगा। इस प्रकार बहुत काल हो जाने पर भी प्रजा को यही प्रतीत होता था कि प्रह्लाद को तो अभी-अभी साम्राज्य प्राप्त हुआ है। ईश्वर करें अभी वे बहुत दिनों तक शासन करते रहें। यह सब कुछ था, किन्तु काल तो किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। उसका चरखा तो किसी समय भी बन्द ही नहीं होता। उसकी गति अनवरत है। वह किसीके मान का नहीं। धीरे-धीरे दैत्यर्षि प्रह्लाद को अपने गार्हस्थ्यजीवन का भी आनन्द मिलने लगा और पुत्र-पौत्रादि के सुख का भी समय आ

गया। महारानी 'सुवर्णा' उनकी एकमात्र धर्मपत्नी थीं और वे 'एकनारी ब्रह्मचारी' की उक्ति के अनुसार सदा शास्त्र-मर्यादा का पालन करते हुए ब्रह्मचारी रहते थे। महारानी सुवर्णा के गर्भ से प्रह्लादजी के कितने पुत्र हुए, इस सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। महाभारत के उद्योगपर्व के ३५ वें अध्याय में महर्षि सुधन्वा के प्रसङ्ग में जो उपाख्यान है, उससे प्रतीत होता है कि प्रह्लादजी के विरोचन ही एकमात्र पुत्र थे* । पद्मपुराण के अनुसार प्रह्लादजी के चार पुत्र थे—आयुष्मान्, शिवि, बाष्कलि और विरोचन† । इसी प्रकार किसी-किसीके मत से गवेष्ठि नामक एक पाँचवाँ पुत्र भी था, किन्तु उनका मुख्य पुत्र या यों कहें कि राजवंशधर विरोचन था, इसमें सन्देह नहीं।

दैत्यर्षि प्रह्लाद का सारा साम्राज्य उनका परिवार था, सारी प्रजा को वे निज पुत्रवत् प्रेम करते थे। फिर भी सांसारिक दृष्टि से उनको पुत्रों के जन्म-काल में अवश्य ही आनन्द-मङ्गलोत्सव मनाना पड़ता था और विशेषकर राजमाता कयाधू के सन्तोष और अनुमोदन के लिये। धीरे-धीरे राजकुमार बढ़ने लगे, उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध दैत्यर्षि प्रह्लादजी ने अपने विचारानुसार ही किया, किन्तु दैत्यवंश का प्रभाव उनके पुत्रों में, सभी

---

* पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत्॥
(महाभा० उ० अ० ३५ श्लो० २८)

† विरोचनश्चतुर्थश्च स बलिं पुत्रमाप्तवान्।
(पद्मपु० सृ० खं० ६)

राजकुमारों में विशेषरूप से भरा था। विद्वान् होने पर भी राजकुमारों में अभिमान था, देव-ब्राह्मण-द्रोह था और आसुरी-भाव थे। यद्यपि दैत्यर्षि प्रह्लाद के भय से उनके देव-द्विज-द्रोही भाव प्रकट नहीं होते थे तथापि भीतर-ही-भीतर वे भाव बढ़ते जा रहे थे और साथ ही दृढ़ भी होते जा रहे थे। गुप्तदूतों द्वारा प्रह्लादजी को अपने पुत्रों के हार्दिक भाव धीरे-धीरे विदित हुए और इसलिये ब्रह्मण्यदेव—विष्णु के अनन्य भक्त प्रह्लाद के हृदय में एक भारी चिन्ता उत्पन्न हुई। वे इस बात की चिन्ता करने लगे कि पुत्रों को देव-द्रोही एवं द्विज-द्रोही आसुरी भाव से किस प्रकार बचावें और उनको कैसे सुधारें ?

एक दिन दैत्यर्षि प्रह्लाद राजसभा में बैठे हुए थे। इतने में द्वारपाल ने आकर महर्षि नारदजी के पधारने का संवाद सुनाया। महर्षि का शुभागमन सुन प्रह्लादजी के आनन्द की सीमा न रही। वे तुरन्त राजद्वार पर जा पहुँचे। महर्षि नारद के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आगे कर उनको राजसभा में ले गये। राजसभा में महर्षि को अर्घ्य, पादार्घ्य दे उनका सविधि पूजन किया और स्वयं महारानी सुवर्णा ने उनकी आरती की। महर्षि नारदजी की आज्ञा से दैत्यर्षि बैठ गये और महारानी सुवर्णा भी अपने पुत्रों के सहित बैठ गयीं। सारी राजसभा में प्रसन्नता छा गयी। सब लोगों ने एक स्वर से सम्राट् प्रह्लाद के सहित महर्षि नारद का जय-जयकार किया। सभासदों के यथास्थान बैठ जाने और जनरव के शान्त हो जाने पर महर्षि नारदजी ने कहा 'दैत्यर्षि प्रह्लाद ! यद्यपि हमारे आगमन से

तुम बड़े प्रसन्न प्रतीत होते हो, किन्तु तुम्हारी आन्तरिक चिन्ता के भाव छिपाने पर भी छिपते नहीं हैं। यह क्या बात है? तुमको किस बात की चिन्ता है? जिसको शस्त्रों के आघात की चिन्ता नहीं हुई, मतवाले हाथियों से कुचले जाने में चिन्ता नहीं हुई, सर्पों से काटे जाने में चिन्ता नहीं हुई और महागरल के खिलाये जाने पर भी चिन्ता न हुई। बेटा! जिसको प्रासाद और पहाड़ों की चोटियों पर से गिराये जाने की चिन्ता न थी, समुद्र में डुबाये जाने की चिन्ता न थी, अग्नि की महाचिता में बिठाले जाने की चिन्ता न थी और प्रबल पराक्रमी दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अचूक खड्ग प्रहार की भी चिन्ता नहीं थी, वही आज चिन्तित क्यों है? तुरन्त बतलाओ। तुम-जैसे परमभागवत की चिन्ता से भगवान् स्वयं चिन्तित होते हैं। अतएव मुझे बतलाओ कि तुम्हारी चिन्ता का कारण क्या है?'

दैत्यर्षि प्रह्लाद–'भगवन्! आप तो अन्तर्यामी हैं और इसी कारण आपको लोग भगवान् का मन कहते हैं। फिर आप मुझसे चिन्ता का कारण पूछते हैं, यही अचरज की बात है।'

महर्षि नारद–'राजन्! जिस राजा के राज्य में गो, द्विज, देवताओं की यथोचित रक्षा, सेवा और पूजा न होती हो तो उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। जिस राज्य में दीन-हीन प्रजा को मदान्ध बलशाली लोग सताते हों और उनको यथोचित दण्ड देने का विधान न हो, उस राज्य के स्वामी को चिन्ता होनी चाहिए। जिस राजा के शासन में पक्षपात किया जाता हो,

समत्वभाव न हो उसको चिन्ता होनी चाहिए। जिस राजा के साम्राज्य में नदियाँ जलपूर्ण न हों, सरोवरों में जल न भरा हो, वापी और कूप स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार न बने हों, तथा किसानों को खेती के लिये, पशुओं को स्वतन्त्र विचरण के समय पीने के लिये, नगरनिवासियों, ग्रामनिवासियों और वन-यात्रा करनेवाले बनजारों के लिये ही नहीं, समस्त यात्रियों के लिये भी मार्गों में सुजल का प्रबन्ध न हो, उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। जिस राजा की अधिकृत भूमि में लँगड़े-लूले, अन्धे, अपाहिज और भाँति-भाँति के पीड़ित रोगियों के भरण-पोषण एवं औषधादि के लिये सुचारुरूप से प्रबन्ध न हो, उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। जिस राजा के शासन के भय से चारों वर्ण और चारों आश्रम का धर्म यथावत् पालन न होता हो और वर्णविप्लव अथवा आश्रमविप्लव उपस्थित हो, उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। जिस राजा के राज्य में महर्षिगण अधिकारानुसार बालकों को अपने-अपने आश्रमों में शिक्षा न देने पाते हों और यज्ञानुष्ठान आदि करने में कठिनाई अथवा बाधाएँ उपस्थित होती हों, उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। परम-भागवत प्रह्लाद ! जिस राजा के राज्य में बालकों में नास्तिकता के भाव जग रहे हों और उनके शिक्षकों का उनके ऊपर प्रभाव न हो, उस राजा को चिन्ता करनी चाहिए। और जिस राजा के हृदय में सर्वव्यापी परमात्मा के ऊपर विश्वास न हो परन्तु जो स्वयं अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करता हुआ, अपनी त्रुटि देखे, उसको ही

चिन्ता करनी चाहिए। हम नहीं जानते कि तुमको इन बातों में से किस बात की चिन्ता है?'

प्रह्लाद—'ऋषिराज! आपने प्रश्न के रूप में मुझे जो उपदेश दिया है इसके लिये मैं आपके चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ। भगवन्! आपके उस समय के उपदेश ने, जब कि मैं गर्भ में था, मुझे घोर सङ्कटरूपी समुद्र में दृढ़ नौका का काम दिया था और उन्हीं उपदेशों के फल से मेरा यह नारकीय-जीवन स्वर्ग ही नहीं, परमपद के सुख का अनुभव कर रहा है; किन्तु राजकाज के मायाजाल में पड़—भगवान् की मायावश उस उपदेश का कुछ विस्मरण-सा हो रहा था। अतएव मैंने अपने पुत्रों के आसुरी भावों को मिटाने में अपने पुरुषार्थ का आश्रय लिया और उसमें असफलता देख मेरे हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई थी, किन्तु आज आपके पुनः स्मरण दिलाने से और उपदेश के दोहराने से मेरा भ्रम दूर हो गया और मेरी सारी चिन्ता अपने-आप विलीन हो गयी। इसलिये नाथ! आपकी इस अहैतुकी कृपा के लिये मैं बारम्बार आपके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है।'

दैत्यर्षि प्रह्लाद की चिन्ता दूर हुई, तदनन्तर महर्षि नारदजी ने राजसभा से जाने की इच्छा प्रकट की। प्रह्लाद ने अपनी महारानी और पुत्रों के सहित उनके चरणों में प्रणाम किया और उनको विदा किया। महारानी सुवर्णा अन्तःपुर को गयीं और विरोचन आदि पुत्र अपने-अपने कामों में लगे। दैत्यर्षि भी अपने राजकाज को देखने-भालने लगे।

महर्षि शुक्राचार्यजी परिभ्रमण करने के बड़े प्रेमी थे, वे बहुधा चारों ओर घूमा ही करते थे, तीर्थयात्रा से लौटे उनको अधिक दिन बीत गये थे। अतएव एक जगह बहुत दिनों तक रहने से उनका जी उकता रहा था। उनका विचार फिर तीर्थ-यात्रा करने का था और इस बार वे सम्राट् प्रह्लाद के साथ तीर्थ-यात्रा करना चाहते थे! एक दिन राजसभा में प्रह्लादजी बैठे हुए थे। इसी बीच में सहसा महर्षि शुक्राचार्यजी वहाँ आ पहुँचे। दैत्यर्षि प्रह्लाद ने उनको आते देख राजसिंहासन से उतर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और एक ऊँचे आसन पर बैठाया। तदनन्तर उनका सविधि पूजन कर हाथ जोड़ कर कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

शुक्राचार्य—'वत्स दैत्यर्षि! भगवत्कृपा से इस समय तुम सर्वसुखसम्पन्न हो, दूध-पूत से भरे-पूरे हो और तुम्हारे धार्मिक विचारों से सारा साम्राज्य सुख-समृद्धिपूर्ण हो रहा है। तुम्हारे वेदान्त-भाव का तुम्हारे प्रजाजनों पर भी भली भाँति प्रभाव पड़ा है और लोग सर्वव्यापी जगदीश्वर को सर्वव्यापी मानते और समता के भाव से प्रेरित परस्पर सद्भाव करते दिखलायी पड़ते हैं; किन्तु सारा संसार समदर्शी नहीं हो सकता। सारे प्राणी सर्वव्यापी ईश्वर की आराधना नहीं कर सकते। इसी कारण सृष्टि की रचना के साथ-ही-साथ जीवों के कल्याणार्थ तीर्थ-स्थानों एवं दिव्य-देशों की रचना भी भगवान् की इच्छा ही से होती है। तीर्थ-यात्रा द्वारा साधारण-से-साधारण प्राणी भी अपने

जीवन को सफल बना सकते हैं और योगिदुर्लभ फल को प्राप्त कर सकते हैं। यह भी देखा जाता है, जो आचरण बड़े लोग करते हैं वही आचरण उन्हींके प्रमाण से उनसे छोटे लोग भी करते हैं। अतएव बड़े लोगों के आचरणानुसार संसार बन जाता है। *'यथा राजा तथा प्रजा'* की नीति से इस समय तुम्हारे साम्राज्य में वेदान्त का अनुशीलन बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से लोग सच्चे वेदान्ती हैं किन्तु उन्हींकी तरह न जाने कितने ढोंगी भी हैं जो कहा करते हैं कि अपने शरीर में ही सारे तीर्थ हैं। तीर्थाटन करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार तुम्हारे साम्राज्य में तीर्थ-यात्रा का महत्त्व धीरे-धीरे घटता जा रहा है, परन्तु ये लक्षण अच्छे नहीं हैं।'

दैत्यर्षि प्रह्लाद—'आचार्यचरण! अवश्य ही ये लक्षण बुरे हैं। मेरा तो यह कभी अभिप्राय नहीं था कि लोग झूठे वेदान्ती बनें और ज्ञानी के मानी तीर्थों की निन्दा, यज्ञों की निन्दा, कर्म-काण्ड की निन्दा और दान-पुण्य की निन्दा करना ही समझें। किन्तु किया क्या जाय, ऐसे ही भाव प्रायः लोगों में देखे जा रहे हैं यह बड़े दुःख और चिन्ता की बात है। स्वामिन्! इस अनर्थ के मिटाने का उपाय और इस अपराध के लिये मुझको प्रायश्चित्त बतलावें। मैं उस प्रायश्चित्त को करने के लिये अभी तैयार हूँ।'

शुक्राचार्य—'वत्स प्रह्लाद! इसका प्रायश्चित्त यही सर्वोत्तम है कि जो प्रजा तुम्हारी पदानुगामिनी बन रही है, उसको स्वयं आचरण करके सन्मार्ग दिखलाओ। तुम अपने दल-बल-सहित स्वयं तीर्थ-

यात्रा को चलो और तीर्थाटन करके अपनी प्रजा के लिये आदर्श बनो। ऐसा करने से तुम्हारी प्रजा तुम्हारा पदानुसरण करेगी जिससे सारा अनर्थ मिट जायगा और तुम्हारा प्रायश्चित्त भी हो जायगा।'

दैत्यर्षि प्रह्लाद ने शुक्राचार्यजी की आज्ञा शिरोधार्य की और अपने लड़कों को मन्त्रियों की अवधानता में राजभार सौंप, तीर्थाटन के लिये तैयारी की। दैत्यर्षि ने आचार्यजी से कहा कि 'भगवन्! यद्यपि लड़के राजनीति में निपुण हैं और अन्यान्य शासन-सम्बन्धी योग्यता भी इनमें देखी जाती है तथापि अभी तक इन्होंने कभी राजभार अपने ऊपर नहीं लिया था। अतएव सम्भव है कि इनमें कोई त्रुटि हो। आप इनको राजनीति की शिक्षा देकर आशीर्वाद देने की कृपा करें जिससे मेरी अनुपस्थिति में ये यथोचित राजकाज करने में समर्थ हों और मेरी प्रजा को कष्ट न हो।' प्रह्लादजी के प्रार्थनानुसार महर्षि शुक्राचार्यजी ने विरोचन आदि पुत्रों को राजनीति के गूढ़ रहस्यों का उपदेश दिया। तदनन्तर सम्राट् प्रह्लाद ने दल-बल-सहित तीर्थ-यात्रा के लिये प्रस्थान किया।

तीर्थ-यात्रा के समस्त नियमों का पालन करते हुए प्रह्लाद ने श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक समस्त तीर्थों की यात्रा समाप्त की। तदनन्तर कुछ समय तक त्रिकूट पर्वत पर विश्राम किया। फिर पाताल के तीर्थों की यात्रा की और वहाँ से लौट कर महर्षि च्यवन के साथ नैमिषारण्य में आये। वहाँ श्रीनर-नारायण की प्रसन्नता प्राप्त कर अपनी राजधानी हिरण्यपुर को लौटे!



अट्ठाईसवाँ अध्याय

प्रह्लाद की तत्त्वजिज्ञासा

महर्षि अजगर और दैत्यर्षि का संवाद



दैत्यर्षि प्रह्लाद बड़े ही तत्त्वजिज्ञासु थे। उनकी सभा में विद्वानों का खासा संग्रह था। इसके सिवा समय-समय पर वे स्वयं भी ऋषियों के आश्रमों में जाकर तत्त्वोपदेश सुनते और अपनी शङ्काओं का निराकरण कराते थे। साधु-संग स्वाभाविक ही उन्हें बहुत प्रिय था।

एक दिन दैत्यर्षि प्रह्लाद कुछ तत्त्वोपदेश सुनने के उद्देश्य से तपोभूमि की ओर जा रहे थे कि मार्ग में ही 'महर्षि अजगर' मिल गये। महर्षि अजगर को देख दैत्यर्षि वहीं ठहर गये और सादर प्रणाम कर उनसे पूछने लगे—'हे ब्रह्मन्! आपको देखने से मालूम होता है कि आप तपोनिष्ठ योग्य विद्वान् हैं, विषय-वासनाओं से रहित एवं स्वस्थ हैं, आप दम्भादि विकारों से मुक्त, शुद्ध और दयावान् हैं। इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं। किसी कार्य का आरम्भ करना उचित नहीं समझते। आप किसीमें भी दोष नहीं देखते। आप सत्यवक्ता, मृदुभाषी और प्रतिभावान् हैं। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को भली भाँति समझनेवाले, बड़े मेधावी और तत्त्ववेत्ता विद्वान् हैं। भगवन्! इन सब गुणों के होते हुए भी आप बालकों के समान

चारों ओर क्यों घूमते फिरते हैं? हम देखते हैं कि आपको न तो किसी वस्तु के लाभ की इच्छा है और न किसी वस्तु के प्राप्त होने पर आप असन्तुष्ट ही होते हैं; सभी विषयों से सदा तृप्त की भाँति रहते हैं। किसी विषय की कभी अवज्ञा नहीं करते। काम, क्रोध आदि विकारों के प्रबल वेग लोगों के चित्त को हरण कर रहे हैं, परन्तु आप विरक्त के सदृश धर्म, अर्थ और कामयुक्त कार्यों में भी निर्विकार-चित्त प्रतीत होते हैं। यह क्या बात है? तपोधन! आप धर्म और अर्थ का अनुष्ठान नहीं करते तथा कार्य में भी प्रवृत्त नहीं होते और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषयों का अनादर करके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अभिमान भी नहीं रखते। प्रत्युत साक्षी के सदृश विचरण कर रहे हैं। इसका क्या रहस्य है? त्यागमूर्ति ब्रह्मन्! यह आपका कैसा तत्त्व-दर्शन है, कैसी वृत्ति है, कैसा शास्त्रज्ञान है और यह किस प्रकार का धर्मानुष्ठान है? यदि आप उचित समझें तो इन प्रश्नों के उत्तर देने की शीघ्र कृपा करें।'

दैत्यर्षि प्रह्लाद की जिज्ञासा देख कर महर्षि अजगर ने उनके प्रश्नों के उत्तर में बड़े ही मधुर वचनों से कहा—'हे दैत्यर्षि प्रह्लाद! आप ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं और ज्ञानियों की संगति करनेवाले हैं फिर भी आपको मेरी वृत्ति देख कर जो अचरज हुआ इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। राजकाज का सम्बन्ध ही ऐसा होता है। इसके द्वारा यथार्थ ज्ञान के प्रकाश में कुछ धुँधलापन-सा आ जाया करता है। प्रह्लाद! मैं आपके

प्रश्नों का उत्तर देता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनिये। कारणरहित चित्त, अचित्त से युक्त अद्वितीय परब्रह्म परमपुरुष से संसार की उत्पत्ति, ह्रास, एवं नाश के विषय की आलोचना विद्वान् लोग किया करते हैं; किन्तु मैं इनकी आलोचना करके ही हर्षित तथा दुःखित नहीं होता। स्वभाव के कारण वर्तमान प्रवृत्तियों और स्वभाव में रत सारे संसार को समझना चाहिए। मैं इसी सिद्धान्त को मान कर ब्रह्मलोक की प्राप्ति से भी प्रसन्न नहीं होता। हे प्रह्लाद! जिन प्राणियों का विनाश निश्चित है, उन वियोग-परायण प्राणियों के संयोग और विनाश को विचार की दृष्टि से देखिये। इस प्रकार के किसी भी विषय में मैं मन नहीं लगाता। जो लोग सगुण पदार्थों को नाशवान् समझते हैं और जगत् की उत्पत्ति तथा उसके लय के तत्त्व को जानते हैं, उनके लिये संसार में कोई कार्य अवशेष नहीं है।

हे दैत्यराज! मैं यह देखता हूँ कि, समुद्र के बीच बड़े-छोटे शरीरवाले सभी जलचर जीवों का पर्याय क्रम से नाश हो रहा है और स्थावर-जङ्गम सभी प्रकार के जीव स्पष्टरूप से मृत्यु के मुख में पतित होते चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं; प्रत्युत आकाशचारी पक्षियों की भी यथासमय मृत्यु होती है। आकाश में घूमनेवाले छोटे और बड़े तारे भी गिरते और नष्ट होते हुए दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार संसार के सभी प्राणियों को मृत्यु के वश में होते देख कर मैं ब्रह्मनिष्ठ और कृतकृत्य होकर सुख की नींद सोता हूँ। मैं कभी अनायास प्राप्त हुए उत्तम अन्न का

भोजन करता हूँ तो कभी कई दिनों तक बिना कुछ खाये ही रह जाता हूँ। कभी लोग मुझे बहुत-सा अन्न दे देते हैं, कभी थोड़ा-सा भोजन कराते हैं और कभी-कभी तो भोजन के लिये कुछ भी नहीं मिलता। मैं कभी चावलों के कणों और किनकों को खाकर रह जाता हूँ, कभी नाना प्रकार के फल भोजन करता हूँ तो कभी विविध प्रकार के पक्वान्नों को खाया करता हूँ। मैं कभी सुन्दर पलंग पर, कभी पृथ्वी पर, कभी महल में, सुन्दर मसहरी में और कभी वन की तृणपूरित भूमि में सोया करता हूँ। मैं कभी बड़े सुन्दर वस्त्रों को पहनता हूँ, कभी सन-सूत के बने कपड़े पहनता हूँ, कभी रेशमी वस्त्रों को धारण करता हूँ, कभी मृगछाला ही ओढ़े रहता हूँ और कभी बहुमूल्य रत्न-जड़ी पोशाक पहनता हूँ। मैं न तो यदृच्छा से प्राप्त धर्मयुक्त वस्तुओं में अनास्था रखता हूँ और न सर्वथा अभाव में उनके लिये मेरे मन में कोई लालसा ही उत्पन्न होती है। हे प्रह्लाद! इस प्रकार मैं पवित्रभाव से स्थिरतायुक्त मरण-विरोधी कल्याणकारी शोक-हीन और अनुपम अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। हे राजन्! संसार के अज्ञानी लोगों के लिये इस अजगरव्रत के आचरण की बात तो दूर रही, वे इसका तत्त्व भी नहीं समझते हैं। हे प्रह्लाद! मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि मानव-जीवन के लिये सबसे सरल और सबसे उत्तम यह अजगरव्रत ब्रह्म-प्राप्तिका प्रधान उपाय है।

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात् परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम् ।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यैः व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं जनमनवाप्तधनं विषीदमानम् ।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम् ।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
सुखमसुखमलाभमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च ।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
अपगतभयरागमोहदर्पो धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः ।
उपगतफलभोगिनो निशम्य व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
अनियतशयनाशनः प्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः ।
अपगतफलसञ्चयः प्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
अपगतमसुखार्थमीहनार्थैरुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम् ।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥
हृदयमननुरुध्य वाङ्मनो वा प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च ।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥

अर्थात् मैं अविचल बुद्धि रह कर अपने धर्म से कभी च्युत न होकर एवं पूर्वापर की सभी बातों को जान, परिमित भाव से अपनी जीविका का निर्वाह करता हुआ राग-द्वेष आदि से रहित, निर्भय, निर्लोभ और मोह-हीन होकर अन्तःकरण की पवित्रता के साथ इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। जिसमें भक्ष्य, भोज्य और पेय विषयों का कोई नियम नहीं है, अदृष्ट के

परिणाम के कारण, देश और काल की व्यवस्था नहीं है। साधारण पुरुष जिसके आचरण करने में असमर्थ हैं, उस हृदय-सुखदायक अजगरव्रत का पवित्र भाव से मैं आचरण करता हूँ। मैं अमुक धन और अमुक ऐश्वर्य प्राप्त करूँगा, इस तरह की तृष्णावाले लोभी को जब धन नहीं मिलता तब उसको महान् दुःख होता है। इस तत्त्व को बुद्धि की निपुणता के साथ आलोचना करके मैं पवित्रभाव से इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। दीन पुरुष अपनी दरिद्रतावश अच्छे और बुरे सभी लोगों के निकट धन के निमित्त हाथ फैलाते हैं, फिर भी अपने मनोरथ को नहीं प्राप्त होते। संसार की यह दशा देख कर मैं उपशम की अभिलाषा से चित्त को जीत कर इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। मैंने यह सुना है कि अजगर नामक जाति का सर्प सदा यों ही पड़ा रहता है तथा यदृच्छा से उपस्थित फल का भोग किया करता है। यह सुन कर राग, भय, मोह और अभिमान से रहित धृति, मति और बुद्धि से युक्त एवं प्रशान्त होकर मैं पवित्रभाव से इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। मेरे सोने और भोजन करने का कोई नियम नहीं है। मैं स्वभाव से ही दम, नियम, सत्य, व्रत और शौच का पालन करता हूँ। तथा फल-सञ्चय से रहित और आनन्दित होकर इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ। हे राजन्! कामनाओं के विषय धन-स्त्री-पुत्र आदि के निबन्धन का परिणाम दुःख का कारण है परन्तु विषयरहित प्राणियों के लिये समस्त दुःख स्वयं ही पराङ्मुख रहते हैं। इस कारण मैं ज्ञान

लाभ करके अन्तःकरण की तृष्णा और स्थिरता को देख कर उसे सन्तुष्ट और स्थिर करने के लिये पवित्र भाव से इस आत्मनिष्ठ अजगर-व्रत का आचरण करता हूँ। मैं वचन, मन और अन्तःकरण का अनुरोध न करता हुआ, सर्वप्रिय सुख की दुर्लभता और अनित्यता को देखते हुए पवित्रभाव से इस अजगरव्रत का आचरण करता हूँ।

हे राजन्! बुद्धिमान् कवियों और विद्वानों ने अपनी कीर्ति को प्रसिद्ध करते हुए निज मत और पर मत के उपपादन में 'यह शास्त्र ऐसा कहता है वह शास्त्र ऐसा कहता है' इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्क की बहुलता के सहित आत्मतत्त्व के विषय का वर्णन किया है; किन्तु मूर्ख मनुष्य उस प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रसिद्ध तर्क के द्वारा न जानने योग्य आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते। अतएव मैं अज्ञान आदि विकारों के नाश करनेवाले और अनन्त दोषों के निवारण करनेवाले तत्त्वज्ञान के द्वारा आलोचना करके सभी दोषों और सभी विषयों की तृष्णा को त्याग कर संसारी मनुष्यों के बीच बालकों के समान निरभिमान हो विचरण किया करता हूँ। यह कोई अचरज की बात नहीं है।'

महर्षि अजगर के उपदेशपूर्ण वचनों को सुन दैत्यर्षि प्रह्लाद बहुत ही सन्तुष्ट हुए। महर्षि अजगर इतनी बातें कह कर तपोवन की ओर चल दिये। जाते समय दैत्यर्षि प्रह्लाद ने उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उन्होंने उदासीनभाव से ही आशीर्वाद दिया। महर्षि के चले जाने पर प्रह्लादजी भी अपनी राजधानी को गये और उनके उपदेशों के अनुसार विरक्तभाव से शासन तथा कालक्षेप करने लगे।

उनतीसवाँ अध्याय

सम्राट् प्रह्लाद की न्यायप्रियता

स्वयंवरा केशिनी कन्या के लिये विरोचन

और

सुधन्वा का विवाद

ब्राह्मण-महत्त्व-वर्णन



म्राट् प्रह्लाद की भगवद्भक्ति और धर्मपरायणता तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु उनकी न्यायशीलता भी किसी न्यायशील सम्राट् से कम न थी। प्रत्युत उनके समान न्यायशील शासक किसी इतिहास में कदाचित् ही कोई मिलेगा। राजा में सत्य की बड़ी भारी आवश्यकता होती है। सत्यहीन शासक का कोई मित्र नहीं होता और उसके सपरिकर परिवार का सर्वनाश हो जाता है। जिस प्रकार लाठी लेकर चरवाहे अपने पशुओं की रक्षा करते हैं, उस प्रकार किसीपर प्रसन्न होकर देवता लोग उसकी रक्षा नहीं करते, बल्कि वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको सुबुद्धि देते हैं। सुबुद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य सच्चरित्र और सत्यवादी होकर अपने धर्म की रक्षा करते हैं, एवं वह सुरक्षित धर्म उनकी सब प्रकार से रक्षा करता है। सम्राट् प्रह्लाद की न्यायप्रियता के अनेक उदाहरण हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व का उदाहरण राजकुमार विरोचन और ऋषिकुमार सुधन्वा के प्राणपणवाले झगड़े का है।

पाञ्चाल-देश में अत्यन्त रूपवती केशिनी नामकी एक कन्या थी। वह कन्या स्वयंवरा थी और उसके पाने के लिये न जाने कितने राजकुमार एवं ऋषिकुमार पागल-से हो रहे थे। स्वयंवर होने की तिथि के पहले ही उसकी सेवा में अपनी-अपनी गुणगरिमा प्रकाशित करने के लिये नित्य ही लोग जाया करते थे। जितने लोग उसके पास पहुँचे थे, उन सबमें से उसका हृदय ऋषिकुमार सुधन्वा की ओर अधिक झुका था। एक दिन उसकी सुन्दरता पर मोहित होकर दैत्यर्षि प्रह्लाद के सुपुत्र राजकुमार विरोचन भी उसके पास जा पहुँचे और उससे अपने को वरण करने की विनीत याचना की। विरोचन एकछत्र सम्राट् के प्यारे पुत्र थे, विद्वान् और बुद्धिमान् थे। उनमें सभी गुण थे और उनके पिता का सुर-असुर दोनों ही समुदाय में बहुत मान था, किन्तु उनमें एक बहुत बड़ा दोष था और वह था आत्माभिमान। उनके हृदय में इसी कारण देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति भक्ति नहीं थी, प्रत्युत द्वेष के भाव थे। वे अपने सामने किसीको भी विद्वान्, ज्ञानी और कुलीन नहीं समझते थे। रूपवती केशिनी न तो वर्तमानकाल की-सी स्वेच्छाचारिणी शिक्षिता युवती थी और न अपने कुल, धर्म एवं सदाचार को तिलाञ्जलि देकर ही स्वयंवरा हुई थी। केशिनी विदुषी थी, विवेकसम्पन्ना थी, राजनीति-पटु और बुद्धिमती थी। वह अपने विचारों में दृढ़ और निर्भय थी। उसने राजकुमार विरोचन से कहा—'हे राजकुमार! आपमें अन्य सभी योग्यताएँ विद्यमान हैं; किन्तु

आपके कुल की योग्यता के सम्बन्ध में मुझे सन्देह है। विवाह के सम्बन्ध में जितनी योग्यताएँ बतलायी गयी हैं, उनमें सबसे बड़ी योग्यता कुल की है। अब तक मेरी दृष्टि में मेरे वरने योग्य 'वर' महर्षि अङ्गिरा के सुपुत्र ऋषिकुमार विद्वान् सुधन्वा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। हे राजकुमार! आप ही बतलावें कि, कुल में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य? यदि दैत्य की अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तो मैं ऋषिकुमार सुधन्वा के साथ विवाह क्यों न करूँ?'

विरोचन—'हे विदुषी केशिनी! मैं केवल तुम्हारी सुन्दरता पर ही नहीं, तुम्हारी गुण-ग्राहकता और विद्वत्ता पर मुग्ध हूँ। तुमने विवाह के सम्बन्ध में जो कुल का प्रश्न उठाया है, वह बड़े महत्त्व का और आवश्यक है। तुम जानती हो कि, मैं महर्षि मरीचि के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ और प्रजापति कश्यपजी मेरे प्रपितामह हैं। अतएव सुधन्वा के कुल की अपेक्षा मेरा कुल श्रेष्ठ है, इसके सिवा स्वयं मैं भी सुधन्वा की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ। मेरे पिताजी अखिल भूमण्डल के सम्राट् हैं। ब्राह्मण और देवता हमारे सामने किस गिनती में हैं?'

केशिनी—'हे विरोचन! कुल की परीक्षा कोई कठिन बात नहीं है। कल प्रातःकाल ऋषिकुमार सुधन्वा मुझे लेने के लिये आवेंगे। उस समय आप भी आवें। आप दोनों महापुरुषों के सामने मैं इस बात की परीक्षा करूँगी कि कुल के विचार से ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा दैत्य?'

विरोचन–'हे कल्याणी ! हे धर्मभीरु ! तुम जो कहती हो मैं वही करूँगा । प्रातःकाल जब सुधन्वा आवेगा, तब मैं भी आऊँगा और तभी तुम हम दोनों के कुल की परीक्षा करना ।'

विरोचन यह कह अपने स्थान को लौट गया । उसको रात-भर नींद नहीं आयी । सबेरा होते ही अपने नित्य कृत्य से निवृत्त होकर वह केशिनी के यहाँ जा पहुँचा । उसी दिन स्वयंवर होने का शुभ मुहूर्त था । स्वयंवर के लिये सुन्दर मण्डप सजाया गया था । केशिनी उस समय अपने निवास-स्थान पर थी, वहीं पर विरोचन भी जा पहुँचा । केशिनी ने राजकुमार को यथोचित शिष्टाचार के साथ बैठाया । थोड़ी ही देर के बाद ऋषिकुमार सुधन्वा भी स्वयंवर-मण्डप में जा पहुँचा । स्वयंवर-मण्डप में सन्नाटा देख सुधन्वा भी केशिनी के निवास-स्थान पर चला गया । केशिनी ऋषिकुमार सुधन्वा को आते देख उठ कर खड़ी हो गयी और आसन, अर्घ्य और पादार्घ द्वारा उसका सत्कार करने लगी । यह देख कर राजकुमार विरोचन द्वेषवश मन-ही-मन जलने लगा । विरोचन ने ऋषिकुमार सुधन्वा को प्रणाम तो नहीं किया, परन्तु उसे अपने आसन पर बैठने के लिये अनुरोध किया । विरोचन के दूषित भावों को देख और उसके वचनों को सुन ऋषिकुमार सुधन्वा ने कहा कि 'हे राजकुमार ! तुम्हारे सुन्दर स्वर्णमय आसन पर तुम्हारे बराबर मैं नहीं बैठ सकता, क्योंकि समानशील व्यक्तियों को ही समान आसन पर बैठना चाहिए ।'

विरोचन—'हे सुधन्वा ! तुमने मेरे साथ आसन पर न बैठने की जो बात कही सो ठीक ही है, वास्तव में तुम मेरे इस स्वर्णमय आसन पर नहीं बैठ सकते, तुम्हारे लिये तो काठ के पीढ़े अथवा कुशासन ही उपयुक्त हैं।'

सुधन्वा—'राजकुमार विरोचन ! तुमने जो कारण बतलाया वह ठीक नहीं है। शास्त्र का यह नियम है कि, पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो बूढ़े मनुष्य और दो शूद्र जो समानशील होते हैं वे ही एक आसन पर साथ-साथ बैठ सकते हैं। इसके विपरीत एक ब्राह्मण का एक दैत्य के आसन पर बैठना उचित नहीं। जब मैं तुम्हारे पिता की सभा में जाता था, तब वे मेरे आसन से नीचे बैठ कर मेरी सेवा करते थे। मेरे समकक्ष आसन पर वे कभी नहीं बैठते थे और न वे कभी मुझको अपने आसन पर बैठने के लिये कहते थे। राजकुमार ! उस समय तुम निरे बालक थे और अपनी माता के पास अन्तःपुर में रहते थे। इसी कारण तुमको इन बातों का पता नहीं है।'

विरोचन—'हे सुधन्वा ! तुम अपने मुख से भले ही अपनी बड़ाई बघारो, किन्तु मैं तुम्हारी बातों को नहीं मान सकता। इस प्रश्न को किसी विद्वान् से पूछना चाहिए और यों ही नहीं, कुछ शर्त लगा कर पूछना चाहिए। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि निर्णय में तुम मुझसे श्रेष्ठ सिद्ध हो जाओ तो मेरे गाय, घोड़े और जो कुछ मेरा धन है, वह सब तुम्हारा हो जायगा।'

सुधन्वा–'हे विरोचन ! तुम्हारे गाय और घोड़े तुम्हारे ही रहें। मुझको उनकी आवश्यकता नहीं। सबसे अच्छा यह होगा कि, हम और तुम, अपने-अपने प्राणों का पण (बाजी) लगा कर इस प्रश्न को किसी पण्डित से पूछें।'

विरोचन–'हे सुधन्वा ! तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। किन्तु इस प्रश्न को पूछने के लिये किसके पास चलोगे ? मैं देवता और मनुष्य के पास कदापि नहीं जाऊँगा। क्योंकि इन दोनों पर तो मेरा विश्वास ही नहीं है।'

विरोचन के वचनों को सुन, सुधन्वा ने कहा 'हे विरोचन ! इस प्रश्न को पूछने के लिये कहीं दूसरे स्थान में जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे पिता सम्राट् प्रह्लाद के पास ही इसका निर्णय कराने के लिये चलूँगा। मेरा विश्वास है कि, पुत्र के प्रेम में फँस वे कभी मिथ्या न बोलेंगे।' सुधन्वा की बात विरोचन ने हर्ष से मान ली और दोनों ही केशिनी से विदा हो प्रह्लाद की राजसभा की ओर चल दिये।

सभा में बैठे हुए प्रह्लादजी ने क्रोध में भरे हुए इन दोनों को आते हुए देख कर कहा 'ये दोनों विषैले साँप के समान क्रोध में भरे हुए एक साथ कैसे चले आ रहे हैं ? अबसे पहले तो इन दोनों को एक साथ हमने कभी नहीं देखा, विरोचन तो ब्राह्मणों से वैसे ही दूर रहता है, जैसे कोई अपने शत्रु से दूर रहे।'

इतने में विरोचन और सुधन्वा सभा में जा पहुँचे। प्रह्लादजी ने अपने पुत्र से कहा 'हे विरोचन ! क्या सुधन्वा तुम्हारे मित्र हैं ?' विरोचन ने यथोचित प्रणाम करके उत्तर में कहा 'पिताजी ! सुधन्वा मेरे मित्र नहीं हैं, बल्कि हम दोनों परस्पर वादी-प्रतिवादी हैं। हम दोनों ने अपने-अपने प्राणों की शर्त लगा कर विवाद किया है और आपको निर्णायक माना है। आप हमारे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दें, मेरे प्रेमवश झूठ न कहें।'

प्रह्लादजी ने जब ऋषिकुमार सुधन्वा से अर्घ्य, पाद्य आदि ग्रहण करने की प्रार्थना की, तब सुधन्वा ने कहा 'राजन् ! मैंने आपका जल एवं मधुपर्क मार्ग ही में ग्रहण कर लिया है। अब इसकी आवश्यकता नहीं। अब आपके सामने राजकुमार विरोचन ने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका सत्य-सत्य उत्तर दीजिये। वही मेरा अर्घ्य, पाद्य एवं सत्कार है। प्रश्न यही है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य ? अर्थात् मैं श्रेष्ठ हूँ या विरोचन ?'

दैत्यर्षि प्रह्लाद—'हे ऋषिकुमार ! इस प्रश्न में आप लोगों ने अपने-अपने प्राणों की बाजी (पण) लगा रक्खी है और मेरे यह एकमात्र प्यारा पुत्र विरोचन है, ऐसी दशा में भी आप मुझसे प्रश्न का उत्तर चाहते हैं यह कैसे सम्भव है ? आप ही बतलावें कि मेरी दशा का मनुष्य ऐसी परिस्थिति में क्या कह सकता है ? विप्रवर ! आप तो धर्मशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता हैं ? आप यह बतलावें कि जो निर्णायक कुछ भी न कहे, न सत्य ही कहे और न झूठ ही, उसकी क्या गति होती है ? और वह कहाँ जाता है ?'

सुधन्वा—'हे सम्राट् प्रह्लाद ! जो निर्णेता सत्यासत्य का ज्ञान रखता हुआ भी सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कहता वह उसी गति को प्राप्त होता है, जिस गति को सापत्न्य दुःख (सौतियाडाह) से भरी स्त्री, हारा हुआ जुआरी तथा दिनभर बोझा ढोनेवाला कुली प्राप्त होता है अर्थात् स्त्रियों को सौतियाडाह में, जुआरी को हारने में तथा कुली को दिनभर बोझा ढोने में जो कष्ट होता है वही कष्ट यमराज के यहाँ उसको मिलता है। जो निर्णायक होकर सत्यासत्य का ज्ञान रखता हुआ भी कुछ नहीं कहता, जो साक्षी होकर झूठ बोलता है, वह नगर-द्वार पर—शहरपनाह के फाटक पर भूखों मरता हुआ अपने अनेक शत्रुओं को सुखी देखने के समान दुःख पाता है। साधारण पशुओं के लिये झूठ बोलने से पाँच हत्या के समान, गौओं के लिये झूठ बोलने से दश हत्या के समान, घोड़े के लिये झूठ बोलने से सौ हत्या के समान और मनुष्य के लिये झूठ बोलने से सहस्र हत्या के समान पाप होता है। स्वर्ण के लिये झूठ बोलनेवाले को संसार में जितने प्राणी उत्पन्न हो चुके हैं तथा जितने अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उतने प्राणियों के मारने के बराबर पाप होता है और स्त्री तथा भूमि के लिये झूठ बोलने से समस्त पृथ्वी के मनुष्यों को मारने के समान पाप होता है। अतएव हे राजन् ! आप निर्णायक हैं। आप सत्यासत्य को जानते हैं। आप न तो मौन ग्रहण करें और न मिथ्या निर्णय करें।'

सुधन्वा की धर्मयुक्त निर्भीक बातें सुन कर दैत्यर्षि प्रह्लाद ने कहा—'हे सुधन्वा ! आपने धर्मयुक्त वचनों से मुझको सावधान

कर दिया यह ठीक ही है; किन्तु आपके ऐसा न कहने पर भी मैं कभी मिथ्या नहीं कह सकता था। जब कि मेरी ही आज्ञा से सारे साम्राज्य में मिथ्या भाषण के लिये कठोर दण्ड दिया जाता है, जब कि अन्याययुक्त होने से मैंने अपने पूज्यचरण पिता की भी आज्ञा नहीं मानी, तब मैं स्वयं मिथ्या भाषण करूँ—पुत्र के लिये मिथ्या भाषण करूँ, यह कभी स्वप्न में भी आप न सोचें। पिता-पुत्र इस अनित्य देह के साथी और सम्बन्धी हैं। किन्तु धर्म अनन्त काल तक अजर-अमर आत्मा का साथी रहता है, जिसके लिये मुझको, आपको तथा सभी ज्ञान रखनेवालों को सदा चिन्ता बनी रहती है। बेटा विरोचन! हम जानते हैं कि हमारे निर्णय से तुम्हारे प्राणों का अन्त हो रहा है और तुम हमारे एकमात्र प्राणप्रिय पुत्र हो, किन्तु धर्म के सामने हम तुम्हारे प्राणों की कुछ भी परवा नहीं कर सकते। हमारा धर्म है कि हमारे साम्राज्य में यदि कोई मिथ्या भाषण करे, अथवा अनुचित न्याय करे, तो हम उसको दण्ड दें। फिर स्वयं हम ही यदि पुत्र के प्राणों के तुच्छ मोह में पड़ मिथ्या भाषण और अनुचित न्याय करेंगे, तो इस राजसिंहासन का घोर अपमान होगा, महान् पाप होगा और अन्तःकरण में विराजमान सर्वान्तर्यामी भगवान् लक्ष्मीनारायण को मर्मवेधी वेदना होगी। अतएव हम सत्य और पुत्र की तुलना में सत्य ही को अधिक महत्त्व देते हैं। राजकुमार! सुनो, अपने मिथ्या अभिमान को छोड़ कर सुनो। मेरा न्याय यह है कि ऋषिकुमार सुधन्वा के पूज्यपाद पिता

महर्षि अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वाजी की पूजनीया माता तुम्हारी माता सुवर्णा से श्रेष्ठ हैं और तुमसे सुधन्वा श्रेष्ठ हैं। अतएव तुम हार गये और सुधन्वा जीत गये।'

इतना कहने के पश्चात् प्रह्लादजी ने पुत्र-प्रेम से नेत्रों में जल भर कर कहा कि—

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥

अर्थात् 'हे विरोचन! अब तुम्हारे प्राणों के स्वामी ये ऋषि-कुमार सुधन्वा हैं। (चाहे तुमको जीवित रक्खें और चाहे तुम्हारे प्राणों को ले लें)। हे सुधन्वाजी! (आप तो दयालु ऋषि-वंशज हैं। आपकी विजय हो गयी। विरोचन अब आपकी कृपा से ही जी सकता है और आपके क्रोध से एक क्षण में अपनी लीला संवरण कर मृत्यु के मुख में जा सकता है) किन्तु मैं आपसे विरोचन के प्राणों की याचना करता हूँ।' प्रह्लादजी के विनीत वचनों को सुन कर ऋषिकुमार सुधन्वा ने कहा—'हे दैत्यर्षि! आपने पुत्र के प्रेम को धर्म के सामने तुच्छ समझ कर सत्य निर्णय किया है। अतएव मैं आपके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, मैं आपके पुत्र का बध नहीं चाहता। किन्तु विरोचन ने मिथ्याभिमानवश कन्या केशिनी के यहाँ मेरी तथा समस्त देव-ब्राह्मणों की बड़ी अप्रतिष्ठा की है, अतएव उस पाप के प्रायश्चित्त के लिये आप इनको आज्ञा दें कि ये उसी केशिनी के स्थान पर चलें और जहाँ पर इन्होंने हम लोगों का अपमान किया है वहीं पर उसी केशिनी के सामने मेरे पैर धोकर उसको अपने

सिर में चढ़ावें, ऐसा होने पर मैं इन्हें आपकी गोद में पुनः अर्पण करने में प्रसन्न होऊँगा।'

प्रह्लाद—'हे सुधन्वा! आपने बड़ी कृपा की और विरोचन के देव-द्विज-द्रोह के अक्षम्य अपराध के लिये, बहुत ही सरल एवं सुन्दर प्रायश्चित्त बतलाया। हम अपना परम सौभाग्य समझते हैं कि ब्राह्मणों के—विशेषकर आप-जैसे पवित्रचरित्र ऋषिकुमार के चरणों को अपने हाथों धोवें और चरणोदक को अपने सिर पर चढ़ावें। इस पवित्र कार्य को हम एक केशिनी ही क्या सारे संसार के सामने करने में अपना गौरव समझते हैं। ऐसी ही आज्ञा से, ऐसे ही आदेश से आप हमारे कुल का सदा उद्धार करते रहें, यही हमारी प्रार्थना है।'

सम्राट् प्रह्लाद की आज्ञा से विरोचन ऋषिकुमार सुधन्वा के साथ गया और विदुषी केशिनी के समीप जाकर विनीत भाव से श्रद्धापूर्वक ऋषिकुमार के चरण धोये और चरणोदक को सिर में लगा साष्टाङ्ग प्रणाम किया। विरोचन ने केशिनी के सामने सुधन्वा से अपने अपराधों के लिये क्षमा-प्रार्थना की और महर्षिकुमार सुधन्वा ने उसको क्षमा के साथ ही सप्रेम आशीर्वाद दिया।

प्रह्लादजी के इस अपूर्व न्याय से, उनकी इस धर्मपरायणता से तथा उनकी इस ब्राह्मण-भक्ति से उनके सारे साम्राज्य में विशेषकर धार्मिक भारतवासियों में उनकी चौगुनी कीर्ति बढ़ गयी। लोग कहने लगे कि ब्रह्मण्यदेव भगवान् वासुदेव के परम भक्त प्रह्लाद ने यह सुन्दर न्याय अपने स्वरूपानुरूप ही किया है।

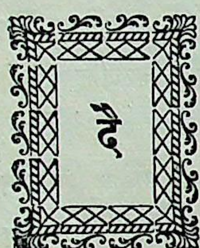


तीसवाँ अध्याय

प्रह्लाद के समीप इन्द्र का अध्ययन

याचक इन्द्र को प्रह्लाद का शील-भिक्षादान

शील की महिमा



दैत्यर्षि प्रह्लाद में जिस प्रकार सभी सद्‌गुणों के समूह थे, उसी प्रकार उनमें सर्व सम्पत्तियों और समस्त गुणों का आधारभूत शील भी पर्याप्त था। उनके शील-स्वभाव तथा उनकी शील-परायणता से सारा संसार उनके वशीभूत था और वे त्रैलोक्य के स्वामी थे। उनके ऐश्वर्य को देख मनुष्यों को कौन कहे, देवगण भी ललचाते थे। जिस प्रकार दैत्यराज हिरण्यकशिपु के समय अधर्मपूर्ण अत्याचार के बल सारे दिक्‌पाल और देवराज इन्द्र उसके आज्ञानुवर्ती और कठिन कारागार के बन्दी थे; उस प्रकार तो नहीं, किन्तु धर्मपूर्ण सुशीलता के द्वारा दैत्यर्षि प्रह्लाद के समय केवल दिक्‌पाल और देवराज इन्द्र ही नहीं, प्रत्युत सारे संसार के मनुज, दनुज और देवतागण उनके शील-स्वभाव के कठिन बन्धन में बँधे हुए मानों इस उक्ति को चरितार्थ कर रहे थे कि—

'बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।'

अर्थात् संसार में बन्धन तो अनेक प्रकार के हैं, किन्तु प्रेमरूपी रस्सी का बन्धन कुछ और ही है। वह सबसे बड़ा है। प्रह्लादजी के शासन-काल में यद्यपि देवताओं को स्वरूपतः कोई कष्ट नहीं

था; उनके यज्ञादि-सम्बन्धी अधिकार छीने नहीं गये थे और न उनमें से किसीको पदच्युत किया गया था, फिर भी सारे संसार में परम भागवत प्रह्लाद, सम्राट् के समान ही नहीं, देवताओं के समान नहीं प्रत्युत उन सबसे बढ़कर अपने आराध्यदेव के समान पूजे जाते थे। ऐसा महत्त्व और ऐसी प्रतिष्ठा देवराज इन्द्र को कब सहन होने लगी और यह सब कुछ देख-सुन कर भी इन्द्र-देव कब चुप रहने लगे?

देवराज इन्द्र के हृदय में दैत्यर्षि प्रह्लाद का महत्त्व शूल के समान साल रहा था और उसके मिटाने के लिये वे प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु गुप्तरूप से तरह-तरह के उपाय सोच रहे थे। एक दिन इसी अभिप्राय से देवराज इन्द्र अपने आचार्य महर्षि बृहस्पति के पास गये। अपने गुरुवर के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर कहा, 'हे भगवन्! मैं आपकी सेवा में श्रेय जानने की इच्छा से आया हूँ। कृपया आप मुझे अपने उपदेशामृत द्वारा श्रेय–कल्याण का मार्ग बतलाइये।' देवराज इन्द्र की बातें सुन, बृहस्पतिजी परम कल्याणकारी एवं मोक्षोपयोगी ज्ञान का प्रतिपादन करने लगे। बृहस्पतिजी ने कहा 'संसार में सभी प्राणियों के लिये मुक्ति का मार्ग ही सबसे अधिक श्रेय है।' परन्तु इन्द्र के मन में तो दूसरी ही बात थी, अतः गुरुवर की बातें सुन कर इन्द्र ने कहा–'हे भगवन्! इस पारलौकिक मोक्ष से भी अधिक कल्याणदायक लौकिक और पारलौकिक दोनों के लिये कोई दूसरा मंगलमय मार्ग है अथवा नहीं? देवराज के प्रश्न

को सुन और उनके हार्दिक भावों को जान कर बृहस्पतिजी ने कहा—'हे सुरराज ! इस विषय का विशेष प्रतिपादन महर्षि शुक्राचार्य ही कर सकते हैं, अतएव आप उन्हींके पास जाइये। उनके उपदेश से आपको सन्तोष होगा और आपका मङ्गल होगा।'

स्वार्थवश देवराज इन्द्र दैत्यों के आचार्य महर्षि शुक्राचार्यजी के पास गये और साष्टाङ्ग प्रणाम कर बैठ गये। शुक्राचार्य के पूछने पर इन्द्र ने अपना अभिप्राय प्रकट किया। महर्षि शुक्राचार्य त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने भावी को जान कर अपने शिष्य एवं प्रिय प्रह्लाद के विरुद्ध किसी प्रकार का उपदेश देना उचित नहीं समझा और उनसे कहा—'हे देवराज ! जिस विषय को आप जानना चाहते हैं, उस विषय का विशेष ज्ञान दैत्यर्षि प्रह्लाद को है, अतएव आप उन्हींके पास जाइये। वे आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।' आशीर्वाद के समान शुक्राचार्य के वचन को सुन कर देवराज इन्द्र ब्राह्मण के वेष में प्रह्लादजी के पास गये।

ब्राह्मण के वेष में इन्द्र को देख प्रह्लादजी ने सादर प्रणाम कर यथोचित शिष्टाचार किया और पूछा कि 'हे द्विजवर ! आपका शुभागमन कैसे हुआ और क्या आज्ञा है?' ब्राह्मण-वेष-धारी इन्द्र ने कहा—'राजन् ! मैं आपको न केवल सम्राट् किन्तु एक आदर्श पुरुष तथा लोक और शास्त्र का ज्ञाता एवं इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण के मार्ग का तत्त्वज्ञ समझता हूँ, अतएव आप मुझे उत्तम आचरणीय विषय के उपदेश की भिक्षा दें यही मेरी प्रार्थना है।' ब्राह्मण के वचनों को सुन, प्रह्लादजी

ने शासन-सम्बन्धी कार्यों की अधिकता के कारण अवकाशाभाव की बात कही, किन्तु ब्राह्मण के यह कहने पर कि, 'जब आपको अवकाश मिलेगा और जितना ही समय मिलेगा तभी और उतना ही उपदेश देने की कृपा कीजियेगा,' प्रह्लादजी ने ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसी समय उसको ज्ञान-तत्त्व की शिक्षा दी। ब्राह्मण ने शिष्यधर्म का ऐसा सुन्दर पालन और प्रदर्शन किया कि, दैत्यर्षि प्रह्लाद का हृदय उसके प्रति बहुत ही सहानुभूति-पूर्ण हो गया।

दैत्यर्षि प्रह्लाद को प्रसन्न देख कर, विप्र-वेष-धारी देवराज इन्द्र ने सुअवसर देख उनसे पूछा—'हे त्रैलोक्यनाथ! हे अरिदमन! आपने किस प्रकार तीनों लोक के राज्य को प्राप्त किया है? हे धर्मज्ञ! जिस अलौकिक गुण के द्वारा, जिस अजेय शक्ति के द्वारा आपने इतना बड़ा प्रभुत्व प्राप्त किया है, कृपया उसका वर्णन कीजिये।' विप्र के वचनों को सुन कर प्रह्लादजी ने कहा—

'हे विप्र! मैं अपने प्रभुत्व का वास्तविक कारण तो स्वयं भी नहीं जानता; किन्तु जिस आचरण से मुझे प्रभुत्व प्राप्त करने में सहायता मिली है, आपसे मैं उसका वर्णन करता हूँ। मैंने ब्राह्मणों के प्रति हृदय में सदा आदर रक्खा है और अपने को राजा समझ कर कभी ब्राह्मणों की निन्दा नहीं की है। ब्राह्मण लोग अपने तर्क-वितर्क के द्वारा शुद्ध हृदय से मुझे शुक्राचार्य की नीति का व्याख्यान सुनाते हैं और उसके अनुसार मुझे चलने के लिये नियन्त्रित करते हैं।

मैं ब्राह्मणों के उपदेशानुसार शुक्रनीति के ही अनुसार चलता हूँ, ब्राह्मणों की सदा सेवा करता हूँ और कभी भूल कर भी ब्राह्मणों की निन्दा नहीं करता। मैं क्रोध को जीते हुए हूँ, इन्द्रियों को वश में रखता हूँ। जिस प्रकार मधु-मक्खियाँ अपने छत्ते में यत्न के साथ मधु इकट्ठा करती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण लोग जो वस्तुतः शासक हैं, मेरे ज्ञान-वृक्ष को अपने उपदेशामृत द्वारा सिञ्चन करते हैं। वे मुझे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, जितक्रोध जान कर ही मेरा इस प्रकार शासन करते हैं। मैं उन ब्राह्मणों द्वारा वाङ्मय शास्त्रों के मुख्य विद्यारस को ग्रहण कर अपनी जाति के बीच नक्षत्रमण्डली के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान हो रहा हूँ। आचार्य के कहे हुए शास्त्र के अनुसार कार्य करने में प्रवृत्त हो जाना ही पृथ्वी में अमृतस्वरूप है और वही ज्ञानोपदेश वस्तुतः मनुष्य का नेत्रस्वरूप है। इस समय अधिक कुछ न कह कर मैं तुमसे केवल यही कहूँगा कि इहलौकिक और पारलौकिक श्रेय-कल्याण-प्राप्ति करने का एकमात्र उपाय है 'शील' और शील-प्राप्ति का उपाय है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथञ्चन॥
तत्तत्कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।

अर्थात् 'किसी प्राणी के प्रति द्रोह न रखना। मन, वचन और कर्म से कभी किसीका अनिष्ट न चाहना, सबके प्रति कृपापूर्ण दृष्टि रखना तथा दानशील होना। ये तीन गुण शील के समस्त गुणों में श्रेष्ठ हैं। अपना कोई काम अथवा पुरुषार्थ जो दूसरे लोगों के लिये हितकर न हो और जिससे दूसरों के सामने लज्जित होना पड़े उसे कभी भी न करे। हे विप्र! सदा ऐसे कार्य करने चाहिएँ जिनसे सभाओं में भले आदमियों के बीच बड़ाई प्राप्त हो और लोग अच्छा मानें।' विप्र की शिष्य-धर्म-निष्ठा से प्रसन्न होकर प्रह्लादजी ने और भी कहा, और कहा क्या, मानो भावी ने ही उनके मुख से कहलवा दिया।— 'हे विप्रवर! तुमने मेरे साथ यथोचित गुरु-शिष्य-भावको निबाहा है। अतएव मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम इस समय जो कुछ माँगना चाहो, माँग लो। मैं तुमको मनवाञ्छित 'वर' देनेके लिये तैयार हूँ। इसमें सन्देह नहीं।'

प्रह्लादजी के वचनों को सुन कर देवराज इन्द्र मन-ही-मन बड़े ही प्रसन्न हुए और उनसे कहा—'हे दैत्यर्षि! आपकी प्रशंसा मैं कहाँ तक करूँ, आपके समान उदार, दानी संसार में कोई नहीं है। राजन्! यदि आप मेरी इच्छा के अनुसार 'वर' देना चाहते हैं, तो कृपया दीजिये, मैंने अपने मन में वर माँग लिया है।' प्रह्लादजी ने कहा कि 'एवमस्तु'—दिया। वरदान प्राप्त करने पर विप्रवेषधारी इन्द्र ने कहा कि—'हे दैत्येश्वर! मेरी इच्छा आपके शील लेने की है। कृपया आप मुझे अपना

शील दीजिये।' प्रह्लादजी के हृदय में इस वरयाचना से भय उत्पन्न हुआ। वे इसका कारण नहीं जान सके और यह देख कि याचक साधारण ब्राह्मण नहीं, कोई तेजस्वी पुरुष है, बड़े विस्मय को प्राप्त हुए, किन्तु वे वचन दे चुके थे, अतः वर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इससे उनके मुखमण्डल पर विषाद की रेखा खिंच गयी। ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र सफलमनोरथ होकर चले गये।

सम्राट् प्रह्लाद को चिन्ताशील देख सारी राजसभा में सन्नाटा-सा छा रहा है। चारों ओर नीरव उदासीनता छा रही है। इसी बीच में दैत्यर्षि के शरीर से तेजोमय विग्रहयुक्त एक महापुरुष छाया के रूप में प्रकट हुआ। उस तेजोमय महाकाय पुरुष से प्रह्लादजी ने कहा कि 'आप कौन हैं और हमारे शरीर को परित्याग करके कहाँ जा रहे हैं?' वह बोला, 'हे राजन्! मैं शील हूँ, आपने मुझको परित्याग किया है। अतएव जाता हूँ और जिस अपने निकटस्थ शिष्य को आपने दिया है अब मैं उसीके शरीर में निवास करूँगा।' इतना कह कर वह तेजोमय शरीरधारी शील अन्तर्धान हो गया और जाकर देवराज के शरीर में प्रविष्ट हुआ। शील के चले जाने पर उसी प्रकार का तेजोमय पुरुष प्रह्लादजी के शरीर से फिर छाया के समान प्रकट हुआ। प्रह्लादजी के पूछने पर उसने कहा कि 'मैं धर्म हूँ, हे राजन्! मैं शील का अनुगामी हूँ। जहाँ शील नहीं रहता वहाँ मैं नहीं रह सकता। अतएव आपका शील जहाँ गया

है उसी आपके शिष्य द्विजवर के पास मैं भी जाऊँगा ।' इतना कह कर वह धर्म की मूर्ति भी अन्तर्धान हो गयी ।

जैसे ही धर्म की मूर्ति अन्तर्धान हुई वैसे ही उसी प्रकार की किन्तु उससे भी अधिक तेजोयुक्त तीसरी मूर्ति प्रकट हुई और प्रह्लादजी के पूछने पर उसने भी उत्तर दिया कि 'हे राजन् ! मैं सत्य हूँ । आपके शरीर को धर्म ने परित्याग कर दिया है । अतएव मैं भी आपके शरीर में नहीं रह सकता । क्योंकि मैं वहीं रहता हूँ, जहाँ धर्म का निवास होता है । अब मैं भी धर्म के साथ उसी द्विजवर के शरीर में जाकर वास करूँगा ।' इतना कह कर सत्य भी धर्म का अनुगामी हुआ । सत्य के अन्तर्धान होने पर प्रह्लादजी के शरीर से उसी प्रकार की तेजोमयी एक चौथी मूर्ति प्रकट हुई जो देखने में बड़ी ही बलशालिनी प्रतीत होती थी । पूछने पर उसने कहा 'हे प्रह्लाद ! मैं वृत्त हूँ, जहाँ सत्य रहता है वहीं मैं भी रहता हूँ ।' वृत्त के सत्यानुगामी होने पर, प्रह्लादजी के शरीर से एक महाशब्द हुआ, जिसने पूछने पर कहा 'मैं बल हूँ । वृत्त जहाँ जाता है, मैं भी वहीं गमन किया करता हूँ ।' इतना कह कर बल भी वृत्त का अनुगामी हो गया । अन्त में प्रह्लादजी के शरीर से एक तेजोमयी देवी प्रकट हुई, प्रह्लादजी के पूछने पर उसने कहा कि 'सत्य पराक्रमी वीरवर दैत्यराज ! मैं श्री हूँ और सदा तुम्हारे शरीर में निवास करती थी । इस समय तुम्हारे शरीर से बल चला गया है । अतएव मैं भी जाती हूँ । क्योंकि मैं सदा बल की ही अनुगामिनी हुआ करती हूँ ।' श्रीजी के ऐसे वचन

सुन कर, प्रह्लादजी के हृदय में एक प्रकार का भय-सा उत्पन्न हुआ और उन्होंने उस तेजोमयी मूर्ति से पूछा कि 'हे कमलालये ! तुम्हीं सत्यव्रतधारिणी तीनों लोक की परमेश्वरी देवी हो, तुम मुझको छोड़ कर कहाँ जा रही हो? तुम सर्वज्ञ और जगज्जननी हो, क्या तुम मुझको यह बतलाने की कृपा करोगी कि, वे द्विजवर जिन्होंने शिष्यत्व ग्रहण कर मुझसे शील की भिक्षा माँगी थी, कौन थे ?'

लक्ष्मी—'हे राजन् ! जो द्विजवर के वेष में तुम्हारे निकट शिक्षित हुए थे, वे देवराज इन्द्र हैं। तीनों लोक में तुम्हारा जो कुछ ऐश्वर्य था उन्होंने शील के रूप में उस सबको तुमसे माँग लिया है। हे धर्मज्ञ ! तुमने शील के सहारे ही तीनों लोक को वश में किया था, सुरराज ने इस मर्म को जान कर तुम्हारे उस शील को वरयाचना के रूप में हरण किया है। हे महा-बुद्धिमान् प्रह्लाद ! सारे ऐश्वर्य का मूल शील ही है। धर्म, सत्य, वृत्त, बल और मैं—सभी शील ही के अधीन हैं। जहाँ शील नहीं, वहाँ हम लोगों का निवास कभी हो ही नहीं सकता।' इस प्रकार शील, धर्म, सत्य, वृत्त, बल और लक्ष्मी सबके सब दैत्यर्षि प्रह्लाद से अलग हो गये। अब दैत्यर्षि प्रह्लाद का सारा विषाद मिट गया और वे उदासीन-भाव से निर्जन सघन वन में जाकर परम पुनीत नैमिषारण्य के समीप अपने आराध्यदेव भगवान् विष्णु का प्रेम-पूर्वक चिन्तन करने लगे। उन्होंने इस घटना को भगवान् का आशीर्वाद समझा और भगवान् के चरणों में चित्त लगा कर आनन्दमग्न हो रहने लगे।



इकतीसवाँ अध्याय

तपस्वी प्रह्लाद और इन्द्र का संवाद

इन्द्र द्वारा पुनः राज्यप्राप्ति

विरोचन को राज्य-समर्पण



जिस समय छल से देवराज इन्द्र ने सत्यव्रत प्रह्लाद के ऐश्वर्य को अपहरण किया था, जिस समय कपट विप्रवेष बना कर इन्द्र ने दैत्यर्षि प्रह्लाद के शील की याचना करके उनको ठगा था और जिस समय तीनों लोक के अधीश्वर परम भागवत प्रह्लाद को क्षणभर में भिखारी बना दिया था, उस समय का दृश्य लौकिक दृष्टि से बड़ा ही करुणापूर्ण था। इन्द्र द्वारा प्रह्लाद के इस प्रकार छले जाने की तुलना हम राजा बलि के वामनभगवान् द्वारा छले जाने से नहीं कर सकते। इसमें सन्देह नहीं कि, इन्द्र और भगवान् वामन एक ही माता और पिता से उत्पन्न हुए थे और कार्य भी उनके इस सम्बन्ध में एक ही से हुए हैं। भगवान् वामन ने राजा बलि से छल द्वारा, उनके सारे ऐश्वर्य को छीन, देवराज इन्द्र को समर्पित किया था और इस प्रकार क्षणभर में राजा बलि को राजा से रङ्क बना दिया था। किन्तु उसके बदले में भगवान् वामन ने जो कुछ राजा बलि को दिया था, वह उनके सारे ऐश्वर्य के मूल्य से कहीं अधिक

मूल्यवान् था। भगवान् वामन ने छल के बदले अपने भक्त राजा बलि को पाताल में भेज कर नित्य ही प्रातःकाल अपने वामनरूप का दर्शन देने का जो निश्चय किया था, उसने राजा बलि के राज्यच्युत होने के दुःख को एक दम मिटा दिया था, किन्तु परम भागवत प्रह्लाद को इन्द्र ने जिस प्रकार राजा से रङ्क बना दिया और उस छल के बदले में तपोभूमि में राज्यच्युत प्रह्लाद को देखने और उनके ऐश्वर्यों का—अपहृत ऐश्वर्यों का स्मरण दिला कर उनके चित्त को दुखाने का जो प्रयत्न किया था, वह नितान्त निन्दनीय नहीं, तो कम-से-कम देवराज के लिये, भगवान् वामन के जेठे भाई के लिये कभी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

यह सब हुआ परन्तु दैत्यर्षि प्रह्लाद ने विप्ररूपधारी इन्द्र के द्वारा अपने ऐश्वर्य के अपहरण को भगवान् की परम कृपा मान कर निःस्पृह भाव से त्याग को स्वीकार कर लिया। उनको भगवान् के ये वचन स्मरण हो आये कि *'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः'* अर्थात् 'जिसपर हम प्रसन्न होते हैं, उसका धन-ऐश्वर्य धीरे-धीरे अपहरण कर लेते हैं।' दैत्यर्षि प्रह्लाद तपस्वी प्रह्लाद के रूप में दुःखी नहीं प्रत्युत परम प्रसन्न हैं, अपने आराध्यदेव भगवान् लक्ष्मीनारायण के अनुचिन्तन में सदा संलग्न रहते हैं। तपस्वी प्रह्लादजी की अवस्था देखने के लिये एक दिन उनके समीप देवराज इन्द्र, कपटी विप्ररूप से नहीं, अपने असली रूप से फिर जा पहुँचे।









प्रह्लाद और इन्द्र

तपोभूमि में तपस्वी प्रह्लाद फल की अभिलाषा से शून्य पापहीन, निरालसी, निरहंकारी, सत्त्वगुणावलम्बी, शम, दम आदि गुणों में अनुरक्त और स्तुति-निन्दा में समबुद्धि रखते हुए जितेन्द्रिय होकर रहते थे। रात-दिन शास्त्रानुशीलन करते हुए वे एकान्त में बैठ समस्त स्थावर-जङ्गमरूपी संसार की उत्पत्ति और प्रलय के कारणस्वरूप परमात्मा का ध्यान करते थे। कभी अप्रिय विषय से क्रुद्ध और प्रिय-विषय-लाभ में हर्षित नहीं होते थे। सुवर्ण और मिट्टी के ढेले में जिनका समान भाव था और जो *'समत्वमाराधनमच्युतस्य'* इस मन्त्र के उपासक थे। *'अणोरणीयान्महतो महीयान्'* का जिन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। एकान्त में बैठे हुए ऐसे तपस्वी प्रह्लाद के समीप जाकर उनकी बुद्धि की परीक्षा करने की इच्छा से देवराज इन्द्र ने कहा कि 'हे प्रह्लाद! इस लोक में जिन गुणों के रहने से लोगों के बीच पुरुष सबसे अधिक प्रतिष्ठित होता है, वे सब स्थिर गुण आपमें विद्यमान हैं और आपकी बुद्धि बालक के सदृश राग-द्वेष से रहित दिखलायी पड़ती है। बतलाइये! आप आत्मा का मनन करते हुए आत्म-ज्ञान का श्रेष्ठ साधन क्या समझते हैं? हे प्रह्लाद! आप स्थानच्युत, ऐश्वर्यहीन होने पर भी शोचनीय विषय का शोक नहीं करते। इसका क्या कारण है? हे दैत्यवंश-प्रसूत प्रह्लाद! आप बुद्धिलाभ अथवा सन्तोष ही से अपनी विपत्ति को देख कर भी कैसे स्वस्थचित्त हो रहे हैं।' देवराज इन्द्र के इस प्रकार के वचनों को सुन कर धैर्यशाली तपस्वी प्रह्लाद ने जो उत्तर दिया वह सर्वथा उन्हींके अनुरूप था।

तपस्वी प्रह्लाद—'हे देवराज इन्द्र ! जो लोग जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति की गति को नहीं जानते, अर्थात् पुरुषों के भोग और अपवर्ग-साधन के निमित्त अनुलोम-प्रतिलोम परिणाम-वाली मूल प्रकृति में जिन्हें आत्म-भिन्न ज्ञान नहीं है, आत्मा में बुद्धिधर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आरोपित करनेवाले उन पुरुषों की बुद्धि मूढ़ता के कारण स्तम्भित होती है, परन्तु जिसे जीव और ब्रह्म में यथार्थरूप से एकत्व का ज्ञान है, उसकी बुद्धि स्तम्भित नहीं हो सकती। भाव और अभावरूप सभी पदार्थ स्वभाव ही से प्रवृत्त और निवृत्त होते रहते हैं अर्थात् जैसे बछड़ा उत्पन्न होने के पहले ही गौओं के रुधिर-पूरित स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है, उस समय उसके प्रवर्तक वात्सल्यभाव के न रहने पर भी जैसे स्वाभाविक ही दूध की उत्पत्ति होती है; ठीक वैसे ही सभी पदार्थ स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति में किसी प्रवर्तक की अपेक्षा नहीं होती, इसलिये (अकर्ता होने से) आत्मा के लिये भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ का भी कोई प्रयोजन नहीं है। यदि कहें कि अयस्कान्त-मणि के समान अकर्ता होकर भी पुरुष सन्निधिमात्र से ही प्रकृति का प्रवर्तक है, तो वास्तव में जब भोग मोक्षरूप पुरुषार्थ का ही अभाव है तब उसका प्रवृत्तकत्व भी सिद्ध नहीं होता। उसके स्वयं अकर्ता होते हुए भी अविद्या के कारण अहंकार की स्फूर्ति होती रहती है। जो अपने आत्मा को शुभ अथवा अशुभ कर्मों का कर्ता मानता है, मेरे विचार से उसकी बुद्धि दोषमयी है, वह वास्तविक आत्म-स्वरूप को नहीं जानता।

हे देवताओं के अधीश्वर इन्द्र ! यदि पुरुष ही कर्ता हो तो, उसके आत्मकल्याण के निमित्त किये हुए सभी कार्य, अवश्य ही सिद्ध होने चाहिए, और उसको कभी पराभूत (विफल-मनोरथ) न होना चाहिए। किन्तु जब कि हम देखते हैं कि अपने हित के यत्न में लगे हुए मनुष्यों के मनोरथ सिद्ध नहीं होते और उन्हें अनिच्छित विपरीत फल मिल जाता है, तब उन्हींका पुरुषार्थ कैसे स्वीकार किया जा सकता है? और जब हम यह भी देखते हैं कि (अदृष्ट की प्रतिकूलता से) किन्हीं-किन्हीं का कोई प्रयत्न न करने पर भी स्वभाव से ही अनिष्ट हो जाता है और इष्ट होते-होते रुक जाता है और किन्हीं-किन्हीं लोगों को परम सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् होने पर भी अत्यन्त कुरूप और अल्पबुद्धि के लोगों से धनादि लाभ की इच्छा रहती है।

हे देवराज इन्द्र ! इस प्रकार जब कि सब शुभाशुभ गुण स्वभाव से ही प्रेरित होकर पुरुषों में निविष्ट होते हैं, तब मैं सुखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ इत्यादि अभिमान करने का कुछ भी कारण नहीं है। सुख, दुःख आदि सभी विषय स्वाभाविक हुआ करते हैं, अतएव सुख से प्रसन्न और दुःख से अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है। हे सुरेश्वर! मेरे विचार से तो मुक्ति और आत्मज्ञान भी स्वभाव से स्वतन्त्र नहीं हैं। इस लोक में शुभाशुभ फल का भोग भी कर्मजनित ही है, इसे सब लोग स्वीकार करते हैं अतएव अब मैं सभी कर्मोंका शेष विवरण कहता हूँ, सुनो। जैसे अन्नको खाता हुआ कौवा शब्द करके उसको प्रकट

करता है, वैसे ही सभी कर्म स्वभाव के असाधारण धर्म हैं अर्थात् सारे कर्म स्वभाव को ही प्रकाशित करते हैं। जैसे सूत्र वस्त्र के कारण होने से सूत्रनिष्ठ शुक्लादि वर्ण-गुण वस्त्र की विचित्रता में कारण होते हैं, वैसे ही स्वभाव ही मनुष्यादि प्राणियों के जन्मादि का कारण है। जो पुरुष धर्माधर्म आदि समस्त विकारों को जानते हैं और त्रिगुणमयी प्रकृति से परे उपादान प्रकृति अर्थात् ब्रह्म को नहीं जानते उन कर्म-प्रधान और भेददर्शी पुरुषों में ही मूढ़ता से जड़ता हुआ करती है। पर जो अधिष्ठानरूप परा-प्रकृति का ही अवलोकन करते हैं, उनमें जड़ता नहीं होती। जिन्होंने सभी पदार्थों को निश्चयरूप से ही स्वभाव से उत्पन्न हुए जाना है, दर्प और अभिमान उनका कुछ भी नहीं कर सकता। हे देवराज! मैं सर्व धर्म-विधि और सर्व भूतों के अनित्यत्व को विशेषरूप से जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, इसी कारण अपने अपहृत ऐश्वर्य और प्रभुत्व के लिये शोक नहीं करता। मैं ममताहीन, निरहंकारी, आशा और वासनारहित माया के बन्धन से मुक्त और देह आदि में अभिमान से रहित होने के कारण स्वरूप-स्थिति से कभी विचलित नहीं होता, इसीसे जीवों की उत्पत्ति और विनाश के परम कारण परब्रह्म परमात्मा को देखता हूँ। हे शक्र! जो मनुष्य शुद्ध-बुद्धि, जितेन्द्रिय, परितृप्त और वासनारहित होकर सब विषयों को अव्यय आत्मस्वरूप देखते हैं उन्हें संसार में कहीं कुछ भी कष्ट नहीं है। जगज्जननी प्रकृति और धर्माधर्म के फल-स्वरूप उसके विकार सुख-दुःखादि में मुझे न प्रीति है न द्वेष।

इस समय मैं किसीको भी न तो अपना शत्रु ही देखता हूँ और न किसीको पुत्र, मित्र, कलत्र आदि की भाँति ममता करनेयोग्य ही देखता हूँ। हे इन्द्र ! मैं न कभी स्वर्ग की कामना करता हूँ, न पाताल की और न मर्त्यलोक की। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि ज्ञान के विषय-स्वरूप 'विज्ञान' में अर्थात् 'बुद्धि-तत्त्व' में और आत्म-स्वरूप 'चिदात्मा' में, कुछ सुख नहीं है; आत्मा धर्माधर्म और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का आश्रय नहीं है और इसीलिये मैं कुछ कामना नहीं करता, प्रत्युत सब कुछ मानता हुआ भी मैं केवल ज्ञान से तृप्ति-लाभ कर कामनारहित हो यहाँ आनन्दपूर्वक निवास करता हूँ।'

इतनी फट्कार सुनने के बाद देवराज इन्द्र को हमारे चरित्रनायक परम भागवत तपस्वी प्रह्लाद के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ और उन्होंने लज्जित होकर बड़े ही विनीत भाव से पूछा कि—

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्लाद पृच्छतः॥

अर्थात् 'हे प्रह्लाद ! आपके सदृश ज्ञान—बुद्धि और शान्ति जिस उपाय से प्राप्त हो सकती है कृपया वह उपाय मुझसे भली भाँति कहिये।' प्रह्लादजी ने देवराज इन्द्र के वचनों को सुन कर कहा कि 'हे सुरराज ! सरलता, सावधानता, इन्द्रियदमन, बुद्धि की प्रसन्नता, निर्मलता और वृद्धों की सेवा से पुरुष परमपदरूप मोक्ष

को प्राप्त होते हैं। मनुष्य स्वभाव ही से ज्ञान लाभ करता है और स्वभाव ही से उसे शान्ति प्राप्त होती है। आप जो कुछ मुझमें और अपनेमें देखते हैं वे सब गुण अथवा दोष स्वाभाविक ही हैं।'

तपस्वी प्रह्लाद के तत्त्वमय वचनों को सुन कर तथा अपनेमें कुटिलता, इन्द्रियलोलुपता आदि दुर्गुणों को स्मरण कर देवराज इन्द्र, बड़े ही लज्जित हुए। उन्होंने अपने किये हुए—प्रह्लाद के प्रति अपने किये हुए कपट-व्यवहारों के लिये उनसे क्षमा-याचना की और कहा कि 'हे तपस्वी प्रह्लाद! मैंने छल से जिस शील को आपसे अपहरण किया था, उसको आप ग्रहण करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक उसे आपकी सेवा में इस ज्ञान-शिक्षा की गुरुदक्षिणा में समर्पित करता हूँ और आपसे विनीत भाव से प्रार्थना करता हूँ कि, मेरा आमन्त्रण स्वीकार कर स्वर्गवासियों को कृतार्थ करने के लिये आप एक बार स्वर्ग पधारने की कृपा करें।'

देवराज इन्द्र प्रसन्नतापूर्वक तपस्वी प्रह्लाद को शीलसम्पन्न कर उनसे विदा हो, अपनी अमरावतीपुरी को लौट गये और तपस्वी प्रह्लाद ने राजधानी हिरण्यपुर की ओर प्रस्थान किया।



बत्तीसवाँ अध्याय

दैत्यर्षि प्रह्लाद का अन्तिम जीवन

पौत्र को तत्त्वोपदेश तथा उनको बन्धनसे छुड़ाना

चरित्र का माहात्म्य



त्यर्षि प्रह्लाद की रुचि प्रायः राज-काज में नहीं रह गयी थी, वे उदासीन-भाव से इसी प्रतीक्षा में राज-काज करते थे कि अपने किस उत्तराधिकारी को राजभार सौंपें जो प्रजारञ्जन में निपुण हो। प्रह्लाद के हृदय में यह भी एक खटकने की बात थी कि वे अपने चचा हिरण्याक्ष के पुत्रों को भी राज्य का अधिकारी समझते थे और अपने पुत्र गवेष्ठि तथा विरोचन को भी शासनसूत्र के चलाने के योग्य समझते थे; किन्तु वे इस चिन्ता में रहते थे कि उनके बारम्बार उपदेश देने एवं समुचित शिक्षा पाने पर भी भाइयों, लड़कों तथा भतीजों में से कोई ऐसा न था जो दैत्यर्षि प्रह्लाद के स्वभावानुसार द्विज-देवताओं का भक्त एवं भगवान् विष्णु का उपासक हो। जितने भाई-भतीजे थे, जितने पुत्र थे, सब-के-सब अपनी जाति के स्वभावानुरूप थे और उन सबके आन्तरिक भाव पूरे-पूरे आसुरी थे तथा वे अपने भावानुसार भगवान् शङ्कर के उपासक थे।

विप्र-वेष-धारी इन्द्र के द्वारा शीलापहरण से—राज्यच्युत होने के समय से—दैत्यर्षि प्रह्लाद की त्यागवृत्ति और भी बढ़ गयी थी

और वह त्यागवृत्ति शील के और समस्त साम्राज्य के पुनः प्राप्त होने से भी कम नहीं हुई। अतएव तपोवन से लौट कर दैत्यर्षि प्रह्लाद ने फिर से राजभार अपने ऊपर रखते हुए भी उस पर ममत्व नहीं रक्खा। फिर भी भगवद्भजन में बाधक जान कर वे राज्यभार से सर्वथा दूर ही रहना चाहते थे अतएव उन्होंने अपने चचेरे भाई अन्धक की अनुमति से सारे साम्राज्य को अपने भाइयों तथा पुत्रों में विभाजित कर दिया तथा उन सब पर एकाधिपत्य रक्खा राजकुमार विरोचन का। अर्थात् साम्राज्य का उत्तराधिकार विरोचन को सौंपा और इस प्रकार राज-पाट सबको सौंप कर परम भागवत दैत्यर्षि प्रह्लाद ने तपोभूमि में जा कर भक्तियोग करने का निश्चय किया। उनके इस निश्चय से उनकी छायास्वरूपा पतिव्रता पत्नी सुवर्णा बहुत घबड़ायी और उसने भी उनके साथ तपोभूमि में जाने की इच्छा प्रकट की, किन्तु त्यागी प्रह्लाद ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उन्होंने समझा-बुझा कर सुवर्णा को पुत्रों की देख-भाल करने के लिये हिरण्यपुर में ही रहने के लिये राजी कर लिया।

दैत्यर्षि प्रह्लाद अकेले ही तपोभूमि नैमिषारण्य को चले गये और वहीं वे अपना अन्तिम जीवन भगवत्-स्मरण में बिताने लगे। जो महापुरुष बालकाल में योगी था—त्याग की मूर्ति था और संसार के इतिहास में बाल-जीवन का अद्वितीय आदर्श था, युवाकाल में साम्राज्य के पद पर रह कर भी जो शान्त और दान्त था, एकस्त्रीव्रती और एकनारीब्रह्मचारी था तथा आतङ्क एवं अत्याचार से

नहीं; अपने शील-सौन्दर्य से तीनों लोक का प्रभु था, जिसने कारागार में नहीं, प्रेमागार में सभी दिक्पालों और देवराज इन्द्र को भी अपने वशीभूत कर रखा था और जो तीनों लोक का स्वामी और सर्वाधिपत्य का पात्र था, वही प्रह्लाद इन सब बातों के होने पर भी पद्मपत्रवत् राजलक्ष्मी से निर्लेप, भगवद्भक्ति में मग्न था और राजाधिराज कहलाने तथा तपस्वी के वेष में तपोभूमि के निवास करने को समान समझता था। वही महापुरुष यदि भगवान् के उपदेशानुसार वृद्धावस्था में त्यागी बन तपोभूमि में जा बसे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जो मनुष्य, गर्भाधान के समय से ही '*ॐ नमो नारायणाय*' इस परम पावन मूलमन्त्र से महर्षि नारद द्वारा अभिमन्त्रित और उन्हींकी भगवद्भक्ति की शिक्षा से दीक्षित था, जिसकी कठिन परीक्षा बालकाल ही में शस्त्रों के आघात, पर्वतों से गिराये जाने, समुद्र में डुबाये जाने, अग्नि में जलाये जाने, विष के पिलाये जाने और साँपों के द्वारा कटवाये जाने से ली जा चुकी थी और एक बार नहीं, बारम्बार—समुद्र-तट पर, राजसभा में, नारायण के युद्ध में और न जाने कितनी बार भगवान् के साक्षात् दर्शन और वरदान मिल चुके थे, उस परम पावन प्रह्लाद का वृद्धावस्था में योगिराज बन, तपोभूमि में निवास करना स्वाभाविक ही था। अचरज की बात थी तो केवल यही कि परम दयालु करुणा-वरुणालय ने अपने ऐसे परम भागवत को इतने अधिक दिनों तक इस मर्त्यलोक में

किसी-न-किसी रूप और किसी-न-किसी अवस्था में अपने अक्षुण्ण कैङ्कर्य से दूर रक्खा ।

दैत्यर्षि प्रह्लाद भक्तियोग में लीन तपोभूमि में रहते थे और न जाने कितने त्यागी महात्मा और विद्वान् ब्राह्मण उनके समीप जाते एवं भगवद्भक्ति की अनन्यता के आनन्द का अनुभव करते थे । उधर त्यागमूर्ति प्रह्लाद, तपोभूमि में भक्तियोग की आराधना कर रहे थे और इधर दैत्यराज विरोचन के शासन का समय बीत गया एवं उसके सुपुत्र परम प्रतापी राजा बलि का शासनकाल आ गया । राजा बलि ने अपनी धार्मिकता और प्रताप से अपने साम्राज्य को इतना प्रभावशाली बनाया कि चारों ओर उनकी प्रशंसा-ही-प्रशंसा सुनायी पड़ने लगी । इसी बीच में देवराज इन्द्र के भी बुरे दिन आये और उनको महर्षि दुर्वासा का शाप हो गया । शाप के प्रभाव और अपने प्रबल पराक्रम से राजा बलि ने इन्द्रासन पर भी अपना अधिकार जमा लिया और यहाँ का शासन मन्त्रियों को सौंप, अपना निवास, स्वर्ग की अमरावतीपुरी में रक्खा । स्वर्ग के सिंहासन पर राजा बलि राज करने लगे और देवराज इन्द्र तथा उनके अधिकारी अन्यान्य देवगण मारे-मारे फिरने लगे । शाप का समय अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतएव दैवीशक्ति की रक्षा करनेवाले दयालु भगवान् विष्णु भी चुपचाप यह तमाशा देखते थे ।

स्वर्ग के सिंहासन पर विराजमान परम प्रतापी राजाधिराज राजा बलि अपने पुराने मन्त्रियों से विशेषकर महर्षि शुक्राचार्य

से अपने पितामह दैत्यर्षि प्रह्लाद की अनुपम ज्ञान-गरिमा की प्रशंसा सुना करते थे और उनकी अलौकिक भगवद्भक्ति तथा उनके त्याग की महिमा सुन-सुन कर वे उनके चरणों के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित हो उठते थे। एक दिन राजा बलि ने महर्षि शुक्राचार्यजी से प्रार्थना की कि यदि आप हमारे पितामहजी के दर्शन हमें एक बार करा दें तो बड़ी कृपा हो। दयालु शुक्राचार्यजी ने राजा बलि की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और प्रसङ्गवश तपोभूमि में जाकर उन्होंने प्रह्लादजी से उनके पौत्र की सारी कथा और उनकी प्रार्थना कह सुनायी। प्रह्लादजी संसार से नाता तोड़ चुके थे, उनकी दृष्टि में या तो उनका कोई पुत्र-पौत्र था ही नहीं या सभी पुत्र-पौत्र उन्हींके थे, किन्तु आचार्यचरणों का वे बड़ा आदर करते थे और वे अपने शरीर के रहते उनकी आज्ञा टालना उचित नहीं समझते थे। अतएव त्यागी और विरागी होने पर भी प्रह्लादजी ने उनकी आज्ञा मान ली। शुक्राचार्यजी की आज्ञानुसार वे एक दिन स्वर्ग की अमरावती में जा पहुँचे।

पूज्यचरण तपस्वी-वेष-धारी पितामह प्रह्लाद को देख कर राजा बलि ने सिंहासन से उठ कर उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और आग्रहपूर्वक उनको अपने सिंहासन पर बैठाया। राजा बलि ने हाथ जोड़ कर कहा कि 'हे पूज्यचरण पितामहजी ! आज मेरे सौभाग्य की सीमा नहीं, आज मैं आपके चरणों के दर्शन से कृत-कृत्य हो गया हूँ। आर्यचरण ! आप ही की कृपा और प्रताप से आज मैं तीनों लोक को जीत सका हूँ और *'पौत्रोऽनन्ताय कल्पते'*

को चरितार्थ कर रहा हूँ। इन्द्र ने छल-बल से आपसे शील-भिक्षा माँग आपको राज्यच्युत किया था, यह बात मेरे हृदय में शूल-सी साल रही थी किन्तु मैंने तीनों लोक के आधिपत्य को राजधर्म के अनुसार अपने बाहुबल तथा आपके आशीर्वाद से प्राप्त किया है। अब मेरा हृदय शान्त है। फिर भी मेरी यही हार्दिक इच्छा है कि आप इसी सिंहासन पर बैठ कर शासन करें और मैं आपके चरणों की सेवा कर अपने जीवन को सफल बनाऊँ। देवराज इन्द्र भी आपको फिर इसी सिंहासन पर आसीन देखें। यही मेरी आन्तरिक कामना है।'

राजा बलि की प्रेमभरी बातें सुन कर योगिराज प्रह्लाद ने हँस कर कहा कि–'वत्स वैरोचन! तुमने जो कुछ कहा वह शिष्टाचार की दृष्टि से भले ही ठीक हो, किन्तु मेरे लिये ठीक नहीं। मैंने बहुत दिनों तक राज्य किया है। मेरी वासना अब राज्य करने की नहीं है। मुझे देवराज इन्द्र के कपट-व्यवहार का कुछ भी ध्यान नहीं है और उन्होंने स्वयं अपने किये हुए व्यवहार के लिये क्षमा माँग ली है। मेरे सात्त्विक जीवन का लक्ष्य कभी ऐसा नहीं था कि किसीको शत्रु मान कर उससे बदला लेने की इच्छा करूँ। फिर अब तो मेरी दृष्टि में तुम और सुरराज दोनों ही समान हो। दोनों ही पर मेरा समान प्रेम और ममत्व है अतएव तुम राज्य करो, किन्तु चतुर्वर्ग के पालन के साथ राज्य करो और राजमद से सदा विरक्त रहो। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करेंगे।'

इसी बीच में महर्षि शुक्राचार्य भी जा पहुँचे और उनके

अनुरोध से योगिराज प्रह्लाद ने अपने पौत्र राजा बलि को राजधर्म का समुचित उपदेश दिया। प्रह्लादजी ने जो कुछ कहा उसका सारांश यही था कि—'धर्मानुकूल धनोपार्जन करना ही राजा का कर्तव्य है। राजा, राजपरिवार, राजवंशज, विपत्तिग्रस्त, मित्र, बूढ़े, गुणी और ब्राह्मणों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर प्रतिदिन उनका आदर-सत्कार और भरण-पोषण करे तथा यथोचित रक्षण करे। लोक और परलोक दोनों में यही कार्य सबसे अधिक कल्याणकारक है। राजा को चाहिए कि धर्मानुसार चारों वर्ण और चारों आश्रम का यथोचित पालन करे, वर्णविप्लव एवं आश्रमविप्लव न होने दे। राजा का सब से परम धर्म है प्रजारञ्जन, अतएव प्रजा में सन्तोष बना रहे, राजभक्ति बनी रहे तथा राजा-प्रजा का साधु सम्बन्ध बना रहे, इसके लिये सदैव प्रयत्न-शील रहना चाहिए।' इस उपदेशामृत को पान कर राजा बलि परमानन्दित हो गये। राजा बलि से विदा हो योगिराज प्रह्लाद पुनः अपनी तपोभूमि को गये और वहीं भगवच्चरणारविन्द के अनुचिन्तन में समाधि लगा कर बैठ गये। उनके चले जाने पर स्वर्ग में चारों ओर उनकी प्रशंसा होने लगी।

धीरे-धीरे वह समय भी आ गया जब कि देवराज इन्द्र के शाप का समय व्यतीत हो गया। देवराज का प्रताप बढ़ने लगा और दैत्यों का बल घटने लगा। राजा बलि को अपशकुन होने लगे। यह सब दशा देख कर राजा बलि बड़े चिन्तित हुए। इसी चिन्ता से ग्रस्त राजा बलि एक दिन, अपने पितामह की सेवा में तपो-भूमि में जा पहुँचे। प्रह्लादजी समाधि लगाये हुए बैठे थे। राजा बलि

ने जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रह्लादजी के कुशल-प्रश्न पूछने पर हाथ जोड़ कर घबड़ाये हुए चित्त से कहा—'पूज्य आर्यचरण ! मुझे आजकल बहुत बुरे-बुरे स्वप्न हो रहे हैं और देश में चारों ओर भाँति-भाँति के दिव्य, आन्तरिक्ष तथा भौतिक अपशकुन और उत्पात हो रहे हैं। इतना ही नहीं, हर तरह से देवताओं का प्रभुत्व बढ़ रहा है। दैत्यों का बल-पराक्रम धीरे-धीरे घट रहा है। इन सबका कारण मेरी समझ में नहीं आता। अतएव मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं आपकी सेवा में आया हूँ। अवश्य ही आप अपने योगबल से इनके कारणों को जानते होंगे और मुझे बतलाने की कृपा करेंगे।'

योगिराज प्रह्लाद ने अपने योगबल से वर्तमान और भविष्य का सारा हाल जान कर राजा बलि से कहा—'हे वैरोचन बलि ! इस समय देवताओं की उन्नति और दैत्यों की अवनति के कारण तुम ही हो। तुमने तीनों लोक को जीत, समस्त देवताओं को अपने-अपने पदों से च्युत कर स्वयं उनके अधिकारों को ग्रहण कर लिया है। इसी कारण देवतालोग दुखी होकर भगवान् की शरण में गये थे। अशरणशरण भगवान् ने उनकी विपदा सुन उनकी रक्षा के लिये अदिति के गर्भ से अवतार लेना निश्चय किया है। वे 'वामन' रूप से अवतार ले देवताओं के अधिकारों की रक्षा करेंगे, जिससे दैत्यों को अपनी करनी का फल मिलेगा। इसी भावी के प्रकाशनार्थ ही तुम्हें बुरे स्वप्न और तुम्हारे साम्राज्य में अपशकुन एवं उत्पात होने लगे हैं। अभी

समय है तुम सावधान हो, दैत्यों की रक्षा का उपाय कर सकते हो।'

दैत्यराज बलि योगिराज प्रह्लाद की हितपूर्ण सत्य बातों को सुन बहुत ही बड़बड़ाया। भावीवश उसकी बुद्धि नष्ट हो रही थी। उसने क्रोध के आवेश में कहा—'हे आर्यचरण! आप कैसी बातें कर रहे हैं? यदि देवताओं की रक्षा करने में विष्णु समर्थ होते, तो अब तक वे क्यों चुप रहते? न जाने कितनी बार हमारे असुर वीरों ने देवताओं को सताया है और उनसे अपने जातिगत वैर का बदला लिया है। परन्तु न कहीं विष्णु आये और न ब्रह्मा। अब इस समय विष्णु आवेंगे तो आवें। उनको भी अपने देव-पक्षपात का फल मिल जायगा। मैं इसके लिये ज़रा भी चिन्तित नहीं।' राजा बलि की बातें योगिराज प्रह्लाद के हृदय में वज्र के समान लगीं। उनके सात्त्विक हृदय में भी (नाटकवत्) क्रोध आ गया और फिर भी उन्होंने शान्तभाव से कहा—'रे मूढ़ वैरोचन! तू उस करुणावरुणालय की निन्दा कर अपनी जिह्वा को कलुषित क्यों कर रहा है? मैं जानता हूँ कि भावी प्रबल है। वह टलनेवाली नहीं। अतएव तेरी बुद्धि नष्ट हो गयी है। अस्तु, जैसा करेगा वैसा तुझको फल मिलेगा; किन्तु मेरे सामने भगवान् की निन्दा कर मेरे हृदय को कष्ट न दे, जा, तू शीघ्र चला जा, यहाँ तेरा कुछ काम नहीं।' योगिराज के शापतुल्य वचनों को सुन कर बलि को बड़ा सन्ताप हुआ, किन्तु उसके लाख गिड़गिड़ाने पर भी योगिराज प्रह्लाद ने उसकी ओर

आँख उठा कर नहीं देखा और मानों उन्होंने महात्मा तुलसीदासजी के वचनों को अपने आचरणों से दिखलाया कि—

'जिनके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।'

बारम्बार की प्रार्थना पर भी जब योगिराज प्रह्लाद ने उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देखा, तब राजा बलि असफल-मनोरथ हो अपनी राजधानी को वापस गये। उनके वापस जाने पर प्रह्लादजी अपने पापों के प्रायश्चित्त-स्वरूप हरि-कीर्तन करने लगे। प्रह्लादजी ने विचार किया कि—

'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।'

अर्थात् 'जो बड़ों की निन्दा करता है केवल वही नहीं, प्रत्युत जो उससे निन्दा सुनता है वह भी पाप का भागी होता है।' प्रह्लादजी के हृदय में बड़ी ग्लानि हुई और राजा बलि के प्रति जो उनके पहले सुन्दर भाव थे वे जाते रहे। जिस महापुरुष ने बालपन में अपने प्रतापी पिता के मुख से भी भगवन्निन्दा सुनना और चुप रहना उचित नहीं समझा था, वह अपने पौत्र के मुख से, सो भी अपने अन्तिम समय, त्याग की दशा में, भगवान् की निन्दा सुनना कब स्वीकार करता?

अन्त में वही हुआ जिसकी आशंका राजा बलि के हृदय में थी और जो योगिराज प्रह्लाद ने कहा था। देवताओं की रक्षा के लिये नहीं, दैवीसम्पदा की रक्षा के लिये और राजा बलि के

गीताप्रेसकी पुस्तकें

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] दूसरा संस्करण आवश्यक परिवर्तनके साथ छपा है, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मू० साधारण जिल्द २॥), बढ़िया जिल्द ... ... २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती-टीका, गीता नम्बर दोकी तरह ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी-टीका, हिन्दीकी १।) वालीके समान, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥=), सजिल्द ... ॥।=)

श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला-टीका, गीता नं० ५ की तरह। मू० १), स० ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्ति नामक निबन्धसहित। साइज मझोला, मोटा टाइप, ३१६ पृष्ठकी सचित्र पुस्तकका मूल्य ॥), स० ... ॥=)

गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-), सजिल्द ... ।=)

गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ॥) वालीके समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ≈)॥ सजिल्द ... =)॥

गीता–भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मू० ।), स० ।≈)

गीता–मूल ताबीजी, साइज २ × २॥ इञ्च, सजिल्द ... =)

गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... =)

गीता–७॥ × १० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण ... -)

गीता-सूची (Gita–List) अनुमान २००० गीताओंका परिचय ॥)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीविष्णुपुराण–हिन्दी-अनुवादसहित, आठ सुन्दर चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, साइज २२×२९ आठ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २॥), कपड़े-की जिल्द ... ... २॥।)

अध्यात्मरामायण—सटीक, आठ चित्रोंसे सुशोभित–एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, हालहीमें प्रकाशित हुआ है, जल्दी नहीं लेनेवालोंको दूसरा संस्करण छपनेतक ठहरना पड़ेगा। मू० १॥।), सजिल्द ... २)

प्रेम-योग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मूल्य अजिल्द १।), सजिल्द ... १॥)

श्रीकृष्ण-विज्ञान–अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, गीताके श्लोकोंके ठीक सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। दो चित्र, पृष्ठ २७५, मोटा कागज, मू० ॥।), स० ... १)

भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रङ्गीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द ... १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी बड़ी जीवनी। पृष्ठ ३६०, मू० ॥।=), सजिल्द १=)

,, (खण्ड २)–सचित्र, पृष्ठ ४५०, मूल्य १=), सजिल्द १।=)

,, (तीसरा खण्ड छप रहा है)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध–सचित्र, सटीक, पृष्ठ ४२०, मूल्य केवल ॥।) सजिल्द ... ... १)

देवर्षि नारद–२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर छपाई, मूल्य ॥।), सजिल्द ... ... १)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, लेखक–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, यह ग्रन्थ परम उपयोगी है। इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके बर्तावमें सत्य व्यवहार और सबसे प्रेम, अत्यन्त आनन्द एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥=), सजिल्द ... ॥।-)

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर



Omkar Nath Jotishi

Varanasi

Jotishi